अध्याय - दो

साहित्य के समाजशास्त्र के विकास में पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों का योगदान

(क) साहित्य के समाजशास्त्र के विकास में पाश्चात्य विद्वानों का योगदान

परिचय : आधार निर्माण
हिप्पोलाइत एडोल्फ तेन
रेमण्ड विलियम्स
ल्यूसिए गोल्डमान
जार्ज लुकाच

(ख) भारतीय समाजशास्त्रियों की साहित्यालोचना

घूर्जीट प्रसाद मुखर्जी
पूरनचन्द्र जोशी
श्यामाचरण दूबे
साहित्यिक एवं गैर साहित्यिक समाजशास्त्रीय आलोचना

अध्याय - दो

(क) साहित्य के समाजशास्त्र के विकास में पाश्चात्य विद्वानों का योगदान ।

परिचय : आधार निर्माण

साहित्य को समझने की कई दृष्टियाँ प्रचलित रही हैं । पहली दृष्टि वह है जो साहित्य की स्वायत्तता की पक्षधर रही है । इस पद्धति के तहत कृति का मूल्यांकन उसकी आन्तरिक संरचना के आधार पर किया जाता है, जबकि दूसरी दृष्टि के अनुसार साहित्य और समाज के बीच के अनिवार्य सम्बन्धों का विवेचन किया जाता है । तीसरी दृष्टि वह है जिसके तहत साहित्य और कलाओं का विवेचन मनोवैज्ञानिक कारणों के आधार पर किया जाता है । इस दृष्टि का सरोकार किसी साहित्यिक कृति को विशिष्ट वैयक्तिक तथ्य के रूप में देखते हुए कुछ निर्धारित मनोवैज्ञानिक स्थितियों के साथ, साहित्य-सर्जना के सम्बन्ध की खोज की जाती है ।

आधुनिक युग का गहरा सम्बन्ध, विज्ञान को अपनी आस्था सौंपने वाले मानव के वैज्ञानिक चिन्तन एवं दृष्टि के विकास से है । हम अतीत पर नज़र डालें तो पायेंगे कि अठारहवीं सदी के अन्त और उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में अपने अतीत और वर्तमान को, वैज्ञानिक तार्किकता और उसी से प्रभावित

कार्य-कारण सम्बन्ध की कसौटी पर कसने का अभूतपूर्व प्रयास किया गया । अत: यह अनायास नहीं था कि उसी दौर में ज्ञान के हर क्षेत्र में ऐतिहासिक दृष्टि और पद्धति के विकास का प्रयास हुआ । ऐसे परिवेश में स्वाभाविक ही था कि साहित्य और समाज के सम्बन्धों को भिन्न दृष्टियों से परिभाषित करने का प्रयास हो । साहित्य के समाजशास्त्र की वर्तमान स्थिति का प्रस्थान बिन्दु यहीं से खोजा जा सकता है ।

साहित्य को शास्त्रीय दृष्टिकोण से हट कर देखने की समानान्तर परम्परा के रूप में साहित्य के समाजशास्त्र का विकास हुआ । इसके तहत साहित्य की सोद्देश्यता और सौन्दर्य की खोज 'समाज' के सन्दर्भ में की गयी । भारत में अट्ठारहवीं सदी के अन्त और उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में अपने अतीत और वर्तमान की तार्किकता और उसके कार्य-कारण सम्बन्ध की कसौटी पर कसने का जो प्रयास हुआ उसके विवेचन में अन्तर्राष्ट्रीय चिन्तन प्रक्रिया के प्रभावों को अनदेखा नहीं किया जा सकता । इसके पीछे के तर्क को, औद्योगीकरण से उपजे तर्क की महत्ता के साथ जोड़ा जा सकता है । इसलिए यह अनायास ही नहीं था कि उसी दौर में ज्ञान के हर क्षेत्र में ऐतिहासिक दृष्टि और पद्धति का विकास हुआ । यहीं से साहित्य के समाजशास्त्र का प्रस्थान-बिन्दु माना जा सकता है ।

हम इतिहास की ओर नज़र डालें तो पाते हैं कि किसी एक खास समय में एक जैसा साहित्यिक और कला आन्दोलन क्यों होता है और समय के साथ इनमें परिवर्तन की दिशा पर सामाजिक परिवर्तनों से मेल खाती है । कारण बिल्कुल साफ है कि समाज की स्थिति ऐसे आन्दोलनों की प्रेरणा स्रोत होती है । इस सन्दर्भ में यह ध्यान देना ज़रूरी है कि साहित्य को

समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखने की पद्धति और मार्क्सवादी पद्धति एक दूसरे के पर्याय नहीं हैं । यह ज्ञात दीगर है कि मार्क्सवादी चिन्तन ने साहित्य को समाजशास्त्रीय ढंग से देखने-समझने में निर्णायक भूमिका निभायी है ।

मार्क्सवादी चिन्तन के उदय के पूर्व ही साहित्य को समाज से जोड़कर देखने की परम्परा यूरोप में शुरू हो चली थी । इस तरह के चिन्तन का पहला व्यवस्थित स्वरूप फ्रेंच समीक्षक हिप्पेलाइट तेन के चिन्तन में देखा जा सकता है लेकिन इसके आधार-निर्माण के सूत्र, फ्रांस की महिला चिन्तक मादाम द स्ताल और जर्मनी के जोहान गाटफ्रेड हर्डर के विचारों में देखे जा सकते हैं । मादाम द स्ताल ने साहित्य का इतिहास लिखते हुए अपनी पुस्तक 'द ल लितरा त्यूर' का उद्देश्य ही "साहित्य पर धर्म, रीति-रिवाजों और कानूनों के प्रभावों और इन पर साहित्य के प्रभाव का अध्ययन करना"[1] बताया । उन्होंने जलवायु भौगोलिक स्थितियों और तदनुसार सामाजिक मनोवैज्ञानिक स्थितियों के साथ साहित्य रचना का सम्बन्ध जोड़ते हुए यह निष्कर्ष दिया कि, विषाद जो कि प्रतिभा प्रसूत कृतियों में उर्वरक का कार्य करता है, उत्तरदेशीय जलवायु की ही उपज है, जबकि दक्षिणी साहित्य में ठंडे घने जंगलों वाले प्रदेश से जुड़े होने के कारण प्रसन्न चित्त, प्रेम वर्णन वाला साहित्य है । भौगोलिक स्थितियों से साहित्य का स्थूल सम्बन्ध निरूपित करते हुए मादाम दी स्ताल का चिन्तन स्पष्टत: विधेयवादी सीमाओं में जकड़ा नज़र आता है । परन्तु इटली में उपन्यास लेखन की प्रवृत्ति के अभाव का कारण तलाशते हुए उन्होंने जो निष्कर्ष दिया वह विधेयवादी सीमाओं

---

1. सं॰ निर्मला जैन - साहित्य का समाजशास्त्रीय चिन्तन, पृ॰-16.

का अतिक्रमण ही नहीं करता बल्कि उनके इन विचारों में, आगे चलकर विकसित होने वाले "उपन्यास के समाजशास्त्र" का आरम्भिक सूत्र भी दिखाई देता है ।

एक अन्य स्थान पर उन्होंने लिखा कि "उपन्यास विधा का विकास इन्हीं सामाजिक व्यवस्थाओं में हो सकता है, जहाँ व्यक्तिगत जीवन की सुविधा हो और स्त्रियों का सम्मान हो"[1] । मादाम दी स्ताल ने साहित्य के विकास में सशक्त मध्यवर्ग की भूमिका को भी समझा और तर्क दिया कि यह वर्ग स्वतन्त्रता और ईमानदारी का - कला के दोनों पूर्वापेक्षित गुणों को जन्म देता है । अपने लेखन में वह लगातार इस बात पर बल देती है कि साहित्य राष्ट्रीय चरित्र की अभिव्यक्ति है तो यहाँ उनका प्रयोजन साहित्य का अपनी युगचेतना के साथ, सम्बन्ध रेखांकित करना है । उन्होंने जहाँ उपन्यास के विकास के साथ जुड़कर, साहित्य और समाज का सम्बन्ध निरूपित करने का प्रथम सार्थक प्रयास किया वहीं, उन्हीं के समकालीन गाडफ्रेड हर्डर ने कविता को अपने विश्लेषण के केन्द्र में रखकर साहित्य के सामाजिक सन्दर्भ की खोज की । मादाम ने साहित्य के भौतिक आधारों की खोज में जिन साक्ष्यों का सहारा लिया उनमें सरलीकरण दिखाई देता है लेकिन ये अठ्ठारहवीं सदी के भौतिकवादी दृष्टिकोण की कमजोरियाँ हैं । यहाँ यह ध्यान देने की जरूरत है कि उनका रचनाकाल, विश्व में समाजशास्त्रीय चिन्तन का शैशवकाल है । यहाँ यह भी गौर करने की बात है कि उनके लेखन में क्रमिक विकास परिलक्षित होता है । साहित्य से राजनीति की निकटता की बात करते हुए उनका मानना था कि प्रत्येक समाज के साहित्य का अपने समय के राजनीतिक

---

1. सं॰ प्रो॰ निर्मला जैन - साहित्य का समाजशास्त्रीय चिन्तन, पृ॰-17.

विश्वासों से गहरा परिचय और सम्बन्ध होना चाहिए ।

तत्कालीन फ्रांसीसी साहित्य में किसानों को उपहास का पात्र समझा जाता था और उन्हें कामेडी के पात्रों के रूप में साहित्य में जगह मिलती थी । इसका विरोध करते हुए उन्होंने निम्न वर्गीय समाज को सही सन्दर्भ में चित्रित करने की वकालत की । इस प्रकार मादाम दी स्ताल का महत्व इस बात में है कि उन्होंने उपन्यास के विकास के कारणों की खोज करते हुए साहित्य और समाज के सम्बन्धों को निरूपित करते हुए प्रथम सार्थक प्रयास किया । उनकी सीमाओं को तत्कालीन सन्दर्भ में रख कर देखे जाने की जरूरत है ।

मादाम दी स्ताल के समकालीन गाडफ्रेड हर्डर ने कविता को केन्द्र में रखकर साहित्य के सामाजिक सन्दर्भों की तलाश की । उनकी पुस्तक "आउटलाइन्स ऑफ द फिलासफी आफ मैन" में कविता के ऐतिहासिक स्रोतों की तलाश करते हुए उन्होंने लिखा कि - "रचनाकार की, विशेषकर किसी कवि की कृति की अनिवार्यतम व्याख्या का सम्बन्ध उसके युग और जाति से होता है ।"[1] गाडफ्रेड हर्डर ने लोकगीतों को कविता का आदर्श रूप माना । उनकी दृष्टि में साहित्य के इतिहास की खोज के लिए संस्कृति के इतिहास की खोज जरूरी है । उन्होंने प्रश्न उठाया कि आखिर एक विशेष प्रकार की साहित्यिक कृति एक प्रकार के सांस्कृतिक परिवेश में उत्पन्न होकर दूसरे परिवेश में प्रासंगिक क्यों नहीं रह जाती ?

हर्डर का ऐतिहासिक महत्व इमैनुअल कान्ट के उस सौन्दर्य शास्त्रीय दृष्टि के विरोध में है जिसके अनुसार सौन्दर्य का बोध विशुद्ध अनासक्त विवेक

---

1. The History of Modern Criticism, Vol.1, Page 185.
[अनु॰ लेखक]

से ही प्राप्त किया जा सकता है । यही नहीं बल्कि हर्डर ने पूर्णतया अनुभव मूलक सौन्दर्यशास्त्र की प्रस्तावना की जो कि प्राकृतिक विज्ञान इतिहास और मनोविज्ञान पर आधारित था । आज विकसित कविता के समाजशास्त्र का विचार सूत्र भी हम हर्डर की स्थापनाओं में देख सकते हैं ।

साहित्य के समाजशास्त्र के आरम्भिक विकास के बाद चिन्तन की एक ठोस प्रक्रिया विकसित हुई जिसे बाद में मार्क्स और एंगेल्स के विचारों ने निर्णायक और ठोस आधार प्रदान किया । मार्क्सवाद ने सामाजिक विज्ञानों को प्राकृतिक विज्ञानों की तरह ठोस व्यवस्था (SYSTEM) प्रदान की ।

इस सन्दर्भ में तेन, ल्यूसिए गोल्डमान जार्ज लुकाच और रेमण्ड विलियम्स का चिन्तन समाजशास्त्रीय चिन्तन प्रक्रिया के इतिहास को जानने के लिए महत्वपूर्ण है । ये पाश्चात्य चिन्तक मार्क्सवादी चिन्तन के पर्याय नहीं थे बल्कि इन्होंने मार्क्सवादी चिन्तन धारा को एक ओर जहाँ व्यापक धरातल पर खड़ा किया वहीं कई बार मार्क्सवादी ढाँचे को अतिक्रमित भी किया । इस सन्दर्भ में जार्ज लुकाच, ब्रेख्त और रेमण्ड विलियम्स के नाम उल्लेखनीय हैं ।

1- हिप्पोलाइत एडोल्फ तेन

साहित्य के समाजशास्त्र के सन्दर्भ में तेन का अध्ययन उनसे पूर्व फ्रान्स में पनप रही साहित्य के समाजशास्त्रीय चिन्तन की परम्परा के सन्दर्भ मे किया जाना चाहिए, जिसकी चर्चा इससे पूर्व की गयी है । तेन के सन्दर्भ में तत्कालीन यूरोप की स्थितियों पर नज़र डालें तो पाते हैं कि तत्कालीन यूरोप में एक ओर प्राकृतिक विज्ञानों का अभूतपूर्व विकास हो रहा था तो दूसरी ओर

समाज विज्ञान के क्षेत्र में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे थे । समाज विज्ञान एवं प्राकृतिक विज्ञानों के बीच आदान-प्रदान की प्रक्रिया शुरू हुई तो समाज विज्ञान चिन्तन के एक नए धरातल पर पहुँच गया ।

प्रकृति-विज्ञानों से सम्पर्क के परिणाम स्वरूप ऐतिहासिक सन्दर्भ, वैज्ञानिकता और वस्तुपरकता के प्रश्न महत्वपूर्ण हो गए । इसके साथ ही साथ भाववादी एवं भौतिकवादी विचारों का द्वन्द्व सामने आने लगा । इन परिस्थितियों से तत्कालीन साहित्य सम्बन्धी आलोचना का प्रभावित होना स्वाभाविक था । स्मरणीय है कि यह "साहित्य के समाजशास्त्र" का शैशवकाल था । तेन की मान्यताएँ इस पूरे सन्दर्भ में महत्वपूर्ण हो जाती हैं । उन्होंने अंग्रेजी साहित्य के इतिहास की भूमिका में लिखा कि - "कोई साहित्यिक कृति न तो व्यक्ति की कल्पना की क्रीड़ा है, न किसी उत्तेजित मन की भटकी हुई अकेली तरंग । वह समकालीन रीति-रिवाजों का पुनर्लेखन है, और एक विशेष प्रकार के मानस की अभिव्यक्ति । हम महान रचनाओं से जान सकते हैं कि किसी समय समाज में मनुष्य कैसे सोचता और अनुभव करता है ।"[1] यह स्मरणीय है कि तेन की दृष्टि पर सवाल उठाने वाले आधुनिक समाजशास्त्रियों को उनकी दृष्टि इतनी धुँधली लगती है कि वे उन्हें समाज-शास्त्री मानने को तैयार नहीं होते और आलोचकों को उनके लेखन में इतना सरलीकरण दिखाई देता है कि वे तेन को आलोचक नहीं समझते । इस प्रकार के निष्कर्ष तेन के समय एवं दृष्टि को सही सन्दर्भ में न देखने का परिणाम है । सी॰ राइट मिल ने कहा कि - "यह (तेन) सबसे पहले और सबसे अधिक एक

---

1. H.A. Taine - Twentieth Century Criticism (Ed)
(अनु॰ मैनेजर पाण्डेय - साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ॰-123)

समाजशास्त्री हैं"[1] इसके लिए तेन के रचनाकर्म की पड़ताल करें तो मिल्स की बात प्रमाणित हो जाती है ।

मिथकों पर विचार करते हुए तेन ने कहा कि - "मिथक माला और भाषा का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है । महत्वपूर्ण है उनके पीछे छिपा वह मानव समुदाय जो अपनी आवश्यकता और विवेक के अनुसार कल्पना और शब्दों को संयोजित करता है ।"[2] अपने पूरे रचनाकर्म में तेन मनुष्य के विवेक और प्रतिभा की खोज करते हुए उसके आत्मा, मनोविज्ञान और अन्तर्जगत के बोध को ही साहित्य लेखन का मुख्य प्रयोजन बताते हैं, इसीलिए उनके साहित्यालोचन में लेखक को केन्द्रीय स्थान प्राप्त है । तेन साहित्य के समाजशास्त्र के चार पक्षों का उल्लेख करते हैं । उन से पहला है 'साहित्य के मूलाधार की खोज' । दूसरा 'लेखक की भूमिका', तीसरा 'साहित्य में समाज के प्रतिबिम्बन की व्याख्या', चौथा पक्ष है 'साहित्य का पाठक' । साहित्य एक सामाजिक तथ्य है इसलिए उसके भौतिक मूलाधारों की खोज करते हुए उनकी कार्य-कारण दृष्टि काम करती है । कला के निर्मित होने की मानसिकता की खोज करते हुए उन्होंने प्रजाति, परिवेश और युग का सिद्धान्त प्रतिपादित किया । तेन के अनुसार प्रजाति युग और परिवेश के बीच की अन्तःक्रिया एक व्यावहारिक एवं चिन्तनशील मानसिक संरचना उत्पन्न करती है । यही मानसिक संरचना उन नवीन विचारों के विकास की दिशा निर्धारित करती है, जो निश्चित रूप से शताब्दियों और युगों की विशेषता होती है । यही तत्व

---

1. C.Wright Mills - The Sociological Imagination, Page-17. (अनु· लेखक)
2. H.A. Taine - Twentieth Century Criticism (Ed). (अनु· मैनेजर पाण्डेय - साहित्य के समाज शास्त्र की भूमिका, पृ·-124)

महान साहित्य और कला में अभिव्यक्ति पाते हैं और ऐसे तत्वों की अभिव्यक्ति महान कलाकार द्वारा अपने युग को सही अर्थों में समग्र रूप से अभिव्यक्त करने में होती है । ऐसे विचार तेन को इस निष्कर्ष की ओर भी ले जाते हैं कि कलाकार जितना अधिक अपनी कला की गहराई में प्रवेश करता है, उतना ही वह अपने युग और जाति की चेतना में प्रवेश करता है ।

परिवेश की चर्चा करते हुए तेन ने लिखा कि - "दुनिया में मनुष्य अकेला नहीं होता । उसके चारों ओर प्रकृति होती है, समाज होता है । उसकी आदिम प्रवृत्तियाँ तथा प्रजातिगत विशेषताएँ, भौतिक, सामाजिक परिस्थितियों और घटनाओं से प्रभावित होती हैं ।"[1]

"युग" की अवधारणा की चर्चा तेन से पूर्व मादाम स्ताल ने भी की थी । तेन के अनुसार एक युग में कुछ प्रधान विचार होते हैं, जिनका प्रभाव व्यवहार और चिन्तन दोनों पर पड़ता है । लम्बे समय के बाद एक विचार के गौण और दूसरे के प्रमुख होने की प्रक्रिया चलती रहती है जो साहित्य को भी प्रभावित करती है । किसी विचार के प्रमुख होने की प्रक्रिया को युग के सन्दर्भ में व्याख्यायित करने की जरूरत है ।

"प्रजाति" की अवधारणा का प्रयोग "कलावादी" संकीर्णता से मुक्त होने के लिए जरूरी है । इसमें वंशानुगत विशेषताएँ, मानसिक बनावट और शारीरिक विशेषताओं आदि का उल्लेख है । आर्यों का उदाहरण देते हुए तेन

---

1. H.A. Taine - Twentieth Century Criticism (Ed).
[अनु॰ मैनेजर पाण्डेय - साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ॰-125]

नें कहा कि दूर-दूर फैल जाने के बावजूद उनमें कुछ सामान्य विशेषताएं मिलती हैं । आगे चलकर तेन ने प्रजाति की व्याख्या को जलवायु और इतिहास की घटनाओं से जोड़ा । उन्होंने परिवेश प्रजाति और युग की अन्तःक्रिया के परिणाम को साहित्य सृजन का कारण माना । इन मान्यताओं की स्थापना के दौरान तेन सरलीकरण के शिकार होते प्रतीत हो हैं तो कभी विधेयवादी दिखाई पड़ते हैं । तेन की इन धारणाओं का अन्तर्विरोध तब सामने आता है, जब वे यह कहते हैं कि - "मनोवैज्ञानिक स्थिति ही सामाजिक स्थिति का कारण है" तो दूसरे स्थान पर यह स्थापना रखते हैं कि जनता की मानसिकता प्राकृतिक सामाजिक परिवेश से निर्धारित होती है । इस अन्तर्विरोध के बारे में प्लेखानोव ने लिखा कि - "तेन के चिन्तन में यह अन्तर्विरोध भौतिकवाद और भाववाद के बीच तालमेल बैठाने की कोशिश का परिणाम है ।"[1] तेन की स्थापनाओं के दूसरे पक्ष पर नज़र डालें तो हम पाते हैं कि तेन लेखक के महत्व की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि उसके सम्पूर्ण चिन्तन का लक्ष्य मनुष्य को जानना है । एक ओर यह मनुष्य रचनाकर्ता लेखक है तो दूसरी ओर कृति में अभिव्यक्त मनुष्य । तेन की राय में कलाकार सत्य का साक्षात्कार करने वाला व्यक्ति होता है । उसकी अन्तर्दृष्टि केवल कथन भंगिमा या सामान्य अर्थ के सत्य तक सीमित नहीं होती । वह अपने युग, राष्ट्र के सत्य की पहचान करता है । इसीलिए तेन साहित्य के ज्ञानात्मक मूल्य को स्वीकार करते हुए उसे "सामाजिक दस्तावेज" का नाम देते हैं । तेन ने साहित्य में भावों की अभिव्यक्ति को विशेष महत्व दिया । इन भावों की अभिव्यक्ति के आधार पर ही किसी कृति का महत्व और उपादेयता सिद्ध

---

1. G. Plekhanov - Selected Philosophical Works, Vol - 5, Page - 293-94. (अनु॰ लेखक)

होती है । उनके अनुसार साहित्य में युगीन राजनीति जीवन्त रूप में प्रकट होती है । और इसके अनुशीलन से ही समाज के नैतिक इतिहास और मनोविज्ञान का ज्ञान होता है । अच्छे साहित्य और महान रचनाओं से समाज का जितना बेहतर ज्ञान प्राप्त हो सकता है उतना ढेरों इतिहास ग्रन्थों से नहीं मिल सकता ।

तेन की इस मान्यता में हम इस समकालीन धारणा का पूर्वाभास पाते हैं कि साहित्य को समझने के लिए समाज का अध्ययन जरूरी है, वहीं दूसरी ओर समाज के अध्ययन के लिए साहित्य एक विश्वसनीय माध्यम है । इन्हीं मान्यताओं के आधार पर आगे चलकर साहित्य के समाजशास्त्र का निर्माण सम्भव हुआ ।

तेन ने साहित्य के समाजशास्त्र की चर्चा के दौरान बार-बार महान साहित्य की चर्चा की है । उनका आशय यह था कि किसी रचना की महानता उसमें अभिव्यक्त सामाजिक सच्चाई से होता है । पाठकों की भूमिका की चर्चा करते हुए तेन की मान्यता थी कि साहित्य हमेशा पाठक की रूचि के अनुसार विकसित होता है जिसका वे मूल्य चुका सकते हैं । अंग्रेजी कवि टेनीसन और फ्रेंच कवि अल्फ्रेड गुसे की तुलना करते हुए उन्होंने कहा कि दोनों की पाठक समुदाय की भिन्नता का प्रभाव उनके साहित्य पर भी पड़ा । सत्रहवीं सदी के फ्रेंच नाटक और उपन्यास पर सामन्तवाद का प्रभाव देखा जा सकता है, चाहे वह पात्रों के चयन के स्तर पर हो या उनकी विश्वदृष्टि के स्तर पर हो । पाठक सम्बन्धी तेन के विचारों पर रचना के अर्थ परिवर्तन बनाम रचना की स्वायत्तता की बहस का प्रभाव दिखाई पड़ता है ।

तेन के रचनाकर्म से जो बात प्रमुखता से उभर कर सामने आती है वह यह है कि उन्होंने साहित्य के सामाजिक आधार की खोज को आलोचना

कर्म की प्रमुख चुनौती माना । इस सन्दर्भ में उन्होंने अनेक अवधारणाओं का प्रयोग किया जिनमें एक ओर कार्य-कारण का सरलीकरण दिखाई पड़ता है, तो दूसरी ओर उन्होंने अनेक ऐसी अवधारणाएं भी सामने रखीं जो आगे चल कर समाजशास्त्रीय आलोचना का आधार बनीं । प्लेखानोव का मानना था कि तेन के बाद कोई साहित्यिक सामाजिक आधार की उपेक्षा भले ही करे लेकिन उस सच्चाई को अस्वीकारना कठिन है ।

तेन के रचना कर्म का मूल्यांकन करते हुए प्लेखानोव ने लिखा कि - "उनका [तेन] कोई आलोचक इस स्थापना का खण्डन नहीं कर सकता कि कला मनुष्य की मानसिकता की उपज है जो परिस्थितियों से प्रभावित होती है ।"[1] तेन कला और साहित्य के अध्ययन का एक ऐसा दृष्टिकोण विकसित करना चाहते थे जो कला और साहित्य के सामाजिक सन्दर्भ को स्पष्ट कर सकें । साथ ही वे इसे वैज्ञानिक बनाने का भी प्रयास करते रहे । परिणाम स्वरूप उनके चिन्तन में प्रकृति-विज्ञानों का प्रभाव दिखाई पड़ता है ।

तेन की कलात्मक अभिरूचि और पद्धति में अन्तर ही नहीं अन्तर्विरोध भी दिखता है । जहाँ पद्धति प्रबल है वहाँ सरलीकरण है लेकिन जहाँ कलात्मक रूचि प्रभावी है, वहाँ साहित्य का मर्म उभर कर सामने आ जाता है ।

रेमण्ड विलियम्स

रेमण्ड विलियम्स द्वितीय महायुद्ध के बाद इंग्लैण्ड में संस्कृति एवं उसके विभिन्न रूपों के अग्रणी विचारक के रूप में उभरे एवं स्थापित हुए । उन्होंने अंग्रेजी में संस्कृति सम्बन्धी चिन्तन की बहस में नये सवाल उठाकर, उसे नयी दिशा में मोड़ा । यही नहीं उन्होंने सांस्कृतिक बहस के सन्दर्भ और उद्देश्य को भी बदल दिया है । उनके लेखन का क्षेत्र बहुत व्यापक है । उन्होंने समकालीन राजनीतिक समस्याओं के साथ-साथ सांस्कृतिक सवालों पर भी विस्तार से लिखा है । वस्तुत: उनका मुख्य क्षेत्र संस्कृति है । उन्होंने साहित्य और उसके विभिन्न रूपों पर विचार करते हुए अंग्रेजी आलोचना को एक नयी दिशा दी । वस्तुत: उनके लेखन की विषयवस्तु में इतनी व्यापकता और विविधता है कि उसे एक नाम देने में कठिनाई महसूस होती है । टैरीइगल्टन ने लिखा है कि - "रेमण्ड विलियम्स के लेखन को परम्परागत रूप से प्रचलित कोई एक नाम देना कठिन है ।"[1]

मजदूर परिवार में पैदा होने के कारण उन्हें बचपन से ही मजदूर आन्दोलनों को देखने व जानने का मौका मिला । वेल्स के जनजीवन से अपने लगाव के कारण उन्हें अंग्रेजी में सांस्कृतिक चिन्तन की अभिजात धारा के सामने जनसामान्य की संस्कृति के महत्व को स्थापित करने में सफलता मिली । उनका सम्पूर्ण आलोचनात्मक लेखन निरन्तर चलने वाली एक बहस की तरह है । रेमण्ड विलियम्स की प्रत्येक पुस्तक एवं निबन्ध लिखने के पीछे वैचारिक रूप से

---

1. Terry Eagleton - The Function of Criticism, Page - 108

(अनु॰ लेखक)

ब्रूस की चेतना सक्रिय दिखाई पड़ती है । "कल्चर एण्ड सोसाइटी" (1958) के लेख "कल्चर इज़ आर्डिनरी" में उन्होंने मैथ्यु आर्नल्ड, इलियट, लीविस की संस्कृति सम्बन्धी अभिजात आग्रहों का विरोध करते हुए जनवादी मूल्यों की स्थापना की ।

"दी लांग रिव्युलूशन" में विलियम्स ने एलियट, लीविस की परम्परा की मान्यताओं का खण्डन करते हुए सम्पूर्ण सांस्कृतिक प्रक्रिया के लोकतन्त्र और समाजवाद की दिशा में आगे बढ़ने का स्वागत ही नहीं किया बल्कि उसकी अनिवार्यता की व्याख्या भी की । लोकतन्त्र का विकास ही उनकी दृष्टि में लम्बी क्रान्ति है । "कम्युनिकेशन्स" (1962) में उन्होंने बीसवीं सदी के सांस्कृतिक सन्दर्भ में संचारमाध्यमों की भूमिका पर विचार किया । वे सम्पूर्ण सांस्कृतिक प्रक्रिया को एक सम्प्रेषण व्यवस्था मानते हैं । इसलिए संचार माध्यमों के सांस्कृतिक महत्व पर विचार करना स्वाभाविक ही है ।"[1]

"आरवेल (1971) में विलियम्स ने जार्ज आरवेल की रचनाओं की दुर्व्याख्या का विरोध करते हुए उनका वास्तविक मूल्यांकन किया । "दी कन्ट्री एण्ड दी सिटी" (1973) में उन्होंने देहात की कविताओं का विवेचन करते हुए कई तरह की रूढ़िवादी मान्यताओं का खण्डन किया है ।

तत्कालीन अंग्रेजी साहित्य के क्षेत्र में मूल्यांकन की तीन धाराएं प्रचलित थीं ।

प्रथम स्वच्छन्दतावादी कवियों का साहित्य चिन्तन । दूसरी आर्नल्ड, लीविस और एलियट की आलोचना परम्परा । तीसरी अंग्रेजी की मार्क्सवादी

---

1. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका - मैनेजर पाण्डेय, पृ--164.

आलोचना । इन सभी आलोचना पद्धतियों के साथ रेमण्ड विलियम्स का विवाद और संवाद स्वाभाविक था । इंग्लैण्ड की इस चिन्तन धारा के अलावा जर्मन और फ्रांसीसी चिन्तन पद्धति की परम्परा ने रेमण्ड विलियम्स को प्रभावित किया । पूरी दुनिया में पूंजीवाद के विकास के साथ साहित्य में स्वच्छन्दता-वादी प्रवृत्तियों का विकास मात्र एक संयोग नहीं है । यही नहीं इस संयोग का एक दूसरा पक्ष यह भी है कि आरम्भ से ही स्वच्छन्दतावादी कलाकारों और लेखकों ने समाज संस्कृति और साहित्य पर पूंजीवाद के दुष्प्रभावों की तीखी आलोचना की है, मसलन अंग्रेजी के वर्ड्सवर्थ और शैली जैसी कवियों ने इंग्लैण्ड के समाजवादियों मार्क्सवादियों से बहुत पहले पूंजीवाद के प्रभाव की आलोचना की थी । "दी कन्ट्री एण्ड दी सिटी" में रेमण्ड विलियम्स ने वर्ड्सवर्थ के सन्दर्भ में लिखा कि - "वर्ड्सवर्थ ने देखा कि जब हम ऐसे अजनबियों के बीच अनिश्चय की मनोदशा में होते हैं जो हमारे जीवन को सभी ओर से घेर कर प्रभावित करते हैं ··· तब हम सुरक्षा के लिए या तो एकदम आत्मलीन हो जाते हैं या फिर सामाजिक जीवन के संकेतों की खोज के लिए हर तरफ नज़र दौड़ाते हैं । अमरी तौर पर खोज की यह कोशिश व्यक्ति के रूप में ही करते हैं लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से एक परिचित समुदाय के खोज की होती है ।[1]

अंग्रेजी आलोचना के "स्क्रूटनी" समुदाय से रेमण्ड विलियम्स का संवाद प्राय: होता रहा । विलियम्स के सामने सवाल यह था कि साहित्य समालोचना के क्षेत्र में सदी के चौथे दशक में मार्क्सवादियों व "स्क्रूटनी" समुदाय के बीच जो बहस हुई उसमें 'स्क्रूटनी' समुदाय विजयी क्यों हुआ । इस प्रश्न का

---

1. Raymond Williams - The Country and the City, Page - 355
[अनु. लेखक]

उत्तर खोजते हुए रेमण्ड विलियम्स ने लिखा है कि - "स्क्रूटनी समुदाय के आलोचक साहित्य के अधिक नज़दीक थे ।"[1] साहित्य का उनका मूल्यांकन व्यावहारिकता पर आधारित था, इसीलिए वे अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुए । विलियम्स के लेखन पर लीविस के विचारों का यह असर बुनियादी मान्यताओं से लेकर उनकी भाषा तक में व्याप्त है । प्रमाण के लिए रेमण्ड के लेखन में साहित्य के विवेचन में विचार से अधिक अनुभव, वर्ग की जगह समुदाय को महत्व देना ऐसी विशेषताएं हैं जो उन्हें लीविस से जोड़ती है । अंग्रेजी आलोचना की परम्परा में मौजूद मार्क्सवादी आलोचना से रेमण्ड विलियम्स का संवाद से अधिक विवाद ही रहा । विलियम्स के विचारों में लगातार परिवर्तन को देखा जा सकता है जैसे कि "कल्चर एण्ड सोसाइटी" में उन्होंने यहां तक कहा कि - "असल में संस्कृति के बारे में कोई सुनिश्चित मार्क्सवादी सिद्धान्त नहीं है केवल बिखरी हुई मान्यताएं हैं ।"[2] आगे चल कर उन्होंने लिखा है कि अगर हम अंग्रेजी की मार्क्सवादी आलोचना पर विचार करें तो पायेंगे कि उसमें स्वच्छन्दतावादियों से मार्क्स के विचारों को मिलाया गया है । उन्होंने यह भी लिखा कि मार्क्सवादी आलोचना में समाज से साहित्य के सम्बन्ध की खोज में ज़ोर-ज़बरदस्ती की प्रवृत्ति अधिक है ।

संस्कृति और साहित्य के विवेचन की यूरोपीय मार्क्सवादी परम्परा से रेमण्ड विलियम्स का सम्पर्क और संवाद की शुरूआत सन् 1970 के आसपास माना जा सकता है, जिसकी पहली अभिव्यक्ति "लिटरेचर एण्ड सोशियोलॉजी (1971)" नामक लेख से मानी जा सकती है जो उन्होंने गोल्डमान की स्मृति

---

1. रेमण्ड विलियम्स - आलोचना अंक-25, पृ॰-26.
2. मैनेजर पाण्डेय - साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ॰-170.

में लिखा था । इसमें उन्होंने अंग्रेजी आलोचना की परम्परा से यूरोपीय मार्क्सवादी आलोचना की परम्परा की तुलना करते हुए गोल्डमान से अपने विचारों के सामंजस्य का प्रयास किया है ।

साहित्य के समाजशास्त्रीय चिन्तन की एक निरन्तर विकासमान यात्रा के बावजूद, "अनुभूति की संरचना" सम्बन्धी उनकी अवधारणा का उनके चिन्तन में केन्द्रीय महत्व है । जाहिर है इस "अनुभूति की संरचना" की परिभाषा और स्वरूप में संशोधन और परिवर्तन होता रहा है ।

"फिल्म और नाटकीय परम्परा की प्रस्तावना" शीर्षक से सन् 1954 में प्रकाशित लेख में उन्होंने पहली बार अनुभूति की संरचना सम्बन्धी धारणा का प्रयोग किया । वहाँ उन्होंने लिखा - "हम एक काल के अध्ययन में उस काल के भौतिक जीवन, सामाजिक संगठन और एक सीमा तक प्रधान विचारों को भी, कमोबेश सही ढंग से पुनर्निर्मित कर सकते हैं ... इन तत्वों से निर्मित समग्रता के किसी एक हिस्से से किसी कलाकृति को जोड़कर देखना उपयोगी सिद्ध हो सकता है । लेकिन अनुभव यही बताता है कि, विश्लेषण के दौरान, इस समग्रता के सभी तत्वों से कला का सम्बन्ध खोज लेने पर भी उसमें एकसा कुछ बच जाता है जिसका बाहर की किसी चीज़ से सम्बन्ध जोड़ पाना मुश्किल होता है । इसी को मैं एक काल विशेष की अनुभूति की संरचना कहता हूँ जिसे किसी कृति को समग्रता में अनुभव करके ही जाना जा सकता है ।"[1]

रेमण्ड विलियम्स के चिन्तन में संस्कृति का महत्वपूर्ण स्थान है । अपने जीवन के उत्तरार्ध में वे संस्कृति सम्बन्धी चिन्तन में लगे रहे । समाज के

---

1. रेमण्ड विलियम्स - पोलिटिक्स एण्ड लेटर्स, पेज-157-158
(अनु. लेखक)

परिवर्तनशील ऐतिहासिक भौतिक सन्दर्भ से संस्कृति के सम्बन्ध एवं उसके सम्प्रेषण के लिए सिद्धान्त के निर्माण का प्रयास रेमण्ड विलियम्स के चिन्तन का महत्वपूर्ण पक्ष है । "कल्चर एण्ड सोसायटी" नामक पुस्तक में सन् 1780 ई॰ से सन् 1959 ई॰ तक के ब्रिटेन के समाज, संस्कृति और साहित्य का वर्णन है । वे "संस्कृति" को जीवन की एक समग्र पद्धति के रूप में स्वीकार करते हुए उसके विभिन्न तत्वों एव उनके पारस्परिक सम्बन्धों के अध्ययन पर जोर देते हैं । उन्होंने संस्कृति के तीन स्तरों की चर्चा की - "प्रथमत: संस्कृति एक जीवन्त अनुभव के रूप में होती है । उसका दूसरा रूप दस्तावेजी होता है । जो कलाकृतियों से लेकर अनेक चीजों में मौजूद रहता है । संस्कृति का तीसरा रूप इन दोनों के सम्बन्ध से बनता है, जिसे चुनी हुई परम्परा की संस्कृति कहा जा सकता है ।"[1] यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि टी॰एस॰ एलियट की तरह रेमण्ड विलियम्स भी संस्कृति को जीवन की समग्र पद्धति मानते हैं । यही नहीं साहित्य के माध्यम से संस्कृति की व्याख्या के लिए उन्होंने उदाहरण के रूप में सोफोक्लीज के "एन्टीगनी" नामक उसी नाटक को लिया है ।

रेमण्ड विलियम्स ने संस्कृति के प्रसंग में हमेशा समुदाय को वर्ग से अधिक महत्व दिया । सन् 1970 ई॰ के बाद लुकाच, गोल्डमान, ग्राम्शी आदि के विचारों के सम्पर्क में आने पर रेमण्ड विलियम की संस्कृति सम्बन्धी मान्यताएँ बदलीं । उन्होंने साहित्य को संस्कृति का प्रमुख रूप माना लेकिन संस्कृति को व्यापक सामाजिक सन्दर्भ में देखने का प्रयास किया । उन्होंने "मार्क्सज्म एण्ड लिटरेचर" में लिखा कि - "Literary Theory cannot be seperated from Cultural Theory, though it may be distinguished within it. This is the central challenge of any social theory of culture."

---

1. Raymond Williams - The Long Revolution, Page-66.

{अनु॰ लेखक}

उनके रचनाकर्म में "परम्परा", समाज साहित्य और संस्कृति को जोड़ने वाली प्रमुख कड़ी है । इसके माध्यम से वे समाज, संस्कृति और साहित्य के बीच के जटिल सम्बन्धों की व्याख्या करते हैं । "कल्चर एण्ड सोसायटी" नाम की पुस्तक में उन्होंने उन्नीसवीं सदी के कुछ उपन्यासों का विश्लेषण करते हुए औद्योगिक क्रान्ति के परिणाम स्वरूप बदलते ब्रिटेन के समाज और उसकी चेतना की व्याख्या की । उपन्यास के मूल्यांकन में उन्होंने यथार्थवाद की धारणा का प्रयोग किया । यथार्थवाद को स्पष्ट करते हुए रेमण्ड विलियम्स ने कहा कि - "उपन्यास की यथार्थवादी परम्परा से मेरा आशय उन उपन्यासों से होता है जिनमें व्यक्तियों के गुणों के माध्यम से समाज के जीवन की समग्र पद्धति के गुणों और विशेषताओं का सृजन और मूल्यांकन होता है ।"[1] रेमण्ड विलियम के चिन्तन में समाज और व्यक्ति दोनों का अपना महत्व है । इस प्रक्रिया में चरित्रों को व्यक्ति और प्रतिनिधि रूप में बाँट कर देखने का खण्डन किया गया है ।

समाजशास्त्रीय आलोचना के इतिहास में कविता की उपेक्षा का आरोप प्राय: लगता रहा है । साहित्य के समाजशास्त्रियों ने कविता के विश्लेषण का बहुत कम प्रयास किया । इस दिशा में किए गए महत्वपूर्ण प्रयासों में रेमण्ड विलियम्स का नाम उल्लेखनीय है । इसी प्रकार नाटक की कलात्मकता की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि - "सम्प्रेषण ही नहीं ग्रहण और बोध के स्तर पर भी नाटक एक सामाजिक कला है । इसलिए उसके इतिहास पर समाज

---

1. Raymond, Williams - The Long Revolution, Page-305.
(अनु॰ लेखक)

के इतिहास की छाप अधिक सहजता से देखी जा सकती है ।"[1]

रेमण्ड विलियम्स का भाषा सम्बन्धी दृष्टिकोण भी उल्लेखनीय है । उनके सम्पूर्ण लेखन में साहित्य की भाषा की गहरी छानबीन का गंभीर प्रयास दिखाई पड़ता है । उन्होंने लिखा कि - "Language is not medium of exprossion but it is source of experience also."[2]

रेमण्ड विलियम्स के लेखन में पूंजीवादी समाज की वास्तविक स्थितियों की कड़ी आलोचना के साथ-साथ भविष्य के वांछित समाज की सम्भावनाओं की तलाश सर्वत्र दिखाई पड़ती है । उनकी भविष्योन्मुखी दृष्टि आलोचनाकर्म के अलावा उनके उपन्यासों में भी दिखाई पड़ती है ।

---

1. Raymond Williams - The Long Revolution, Page-272. [अनु. लेखक]
2. Raymond Williams - Orwell, Page-30.

ल्यूसिए गोल्डमान

बीसवीं सदी में साहित्य के समाजशास्त्र को जिन्होंने एक सुव्यवस्थित और विश्वसनीय प्रविधि के रूप में विकसित किया उनमें ल्यूसिए गोल्डमान की निर्णायक भूमिका थी । साहित्य के समाजशास्त्रीय विचारक के रूप में उनकी ख्याति फ्रांसीसी भाषा में प्रकाशित दो कृतियों - "अव्यक्त ईश्वर" (1956) और "उपन्यास के समाजशास्त्र की एक दिशा" (1964) से मिली । इसके अलावा दो महत्वपूर्ण निबन्ध संग्रहों - "आधुनिक युग में सांस्कृतिक सृजन" और "साहित्य के समाजशास्त्र की पद्धति" में उनके चिन्तन को सुव्यवस्थित आधार प्रदान किया गया । लावेंथल के बाद साहित्य के समाजशास्त्र के विकास का श्रेय गोल्डमान को ही जाता है । रेमण्ड विलियम्स ने गोल्डमान का मूल्यांकन करते हुए लिखा कि, "The fact that I learned simultaneously that (Goldmann's work) had been denounced as heretical, that it was a return to left hegelianism, left-bourgeois idealism and so on, did not, I am afraid detain me. If you are not in a church you are not worried about heresies; the only real interest is actual theory and practice."[1]

---

1. Raymond Williams - Literature and Sociology in memory of Lucien Goldmann, New Left Review 67, May/June 1971.

गोल्डमान ने अपने चिन्तन में दर्शन, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान का सार्थक प्रयोग किया । यही कारण है कि उनके चिन्तन की व्यापकता साहित्य के ठेठ समाजशास्त्रियों से अलग दिखाई पड़ती है । गोल्डमान ने समाज में संस्कृति के ऐतिहासिक, सामाजिक और सौन्दर्यबोधीय सम्बन्धों की खोज-दृष्टि विकसित की । वस्तुत: उनका उद्देश्य साहित्य के समाजशास्त्र की ऐसी पद्धति का विकास था जिसके सहारे व्यापक ऐतिहासिक सामाजिक प्रक्रिया की समग्रता के भीतर कलाकृतियों का मनुष्य की सार्थक क्रियाशीलता के रूप में विवेचन हो सके । अनेक बुनियादी मान्यताएं, अपने पूर्ववर्ती और समकालीनों से लेते हुए, उसे अपने मौलिक चिन्तन के साँचे में ढालने का प्रयास गोल्डमान ने किया । यही कारण है कि उनके द्वारा विकसित पद्धति को कोई एक नाम देना जितना कठिन है, वहीं यह पद्धति नयी भी है और जटिल भी । इस सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि हमेशा सरलीकरण की माँग बेमानी हुआ करती है ।

गोल्डमान के रचनाकर्म की व्यापकता का अन्दाज़ा इसी बात से लगाया जा सकता है कि उन्होंने 17वीं सदी के साहित्यकारों से लेकर गोदार की फिल्मों तक का विवेचन किया । जार्ज लुकाच से अलग उन्होंने प्राचीन और समकालीन साहित्य के बीच दीवार नहीं खड़ी की बल्कि उनमें एक निरन्तरता या समान तत्वों की खोज की । गोल्डमान के समकालीन वैचारिक आन्दोलनों में संरचनावाद (structurlism) की चुनौती सबसे बड़ी चुनौती थी । संरचनावादी कृति के रूप को तो महत्व देते थे लेकिन उसके ऐतिहासिक सन्दर्भों की उपेक्षा करते थे । इन चुनौतियों के अलावा गोल्डमान नें पूर्व में प्रचलित अनेक मान्यताओं का प्रयोग विशेष पद्धति में ढाल कर किया ।

साहित्य से समाज के सम्बन्ध के खोज की दो पद्धतियाँ प्रचलित रही हैं । प्रथम है सामाजिक यथार्थ से साहित्य में व्यक्त यथार्थ का सम्बन्ध विवेचन । दूसरी है कृति में व्यक्त चेतना के सामाजिक उद्गम की खोज । गोल्डमान ने अपने रचनाकर्म में इस दूसरी पद्धति का इस्तेमाल किया ।

अब विचारणीय है कि गोल्डमान के रचनाकर्म के मूलाधार क्या रहे हैं । 'विश्वदृष्टि' की अवधारणा का गोल्डमान के चिन्तन में केन्द्रीय महत्व रहा है । उनके अनुसार प्रत्येक कृति विशेषत: महान रचनाएं एक विश्वदृष्टि को अभिव्यक्त करती है । वे इस प्रकार कृति की चेतना को विश्वदृष्टि के रूप में पहचानते हैं । दूसरे शब्दों में कहें तो वे किसी कृति को सामूहिक चेतना या परावैयक्तिक चेतना की अभिव्यक्ति, इस अर्थ में मानते हैं कि उसकी विश्व-दृष्टि की संरचनाएँ लेखक की निजी निर्मिति नहीं होतीं, बल्कि उसके वर्ग के दूसरे व्यक्ति भी उसी विश्वदृष्टि के सहभागी होते हैं । उनका मानना है कि एक व्यक्ति का अनुभव संसार अपने आप में इतना समृद्ध नहीं हो सकता कि वह इतनी जटिल संरचनाओं की सृष्टि कर सके जो किसी महान कृति में होती है । उन्होंने लिखा कि - "हर बार यही प्रश्न सामने आता था कि किसी साहित्यिक या कलात्मक धारा की आधारिक संरचना का पता कैसे लगाया जाए । अन्त में विवश होकर जिस तत्व पर विचार करना पड़ा ... वह तत्व था सामाजिक वर्ग या समाज के साथ उसका सम्बन्ध ।"[1] इस प्रकार गोल्डमान की धारणा का मूल बिन्दु है किसी कृति की विश्वदृष्टि और सामाजिक वर्ग की विश्वदृष्टि की संरचनाओं के बीच समानधर्मिता की खोज, जिसे उत्पत्ति-मूलक संरचनावादी पद्धति का नाम दिया गया ।

---

1. Lucien Goldmann - The Human Sciences and Philosophy.
(अनु॰ - मैनेजर पाण्डेय - साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ॰-148)

गोल्डमान के विचारों पर टिप्पणी करते हुए मैनेजर पाण्डेय ने लिखा कि - "विश्वदृष्टि एक निश्चित कालखण्ड में एक वर्ग के विचार अनुभूति और व्यवहार की समग्रता में प्रकट होती है । अर्थ यह है कि विश्वदृष्टि का विकास होता है, सर्जना नहीं होती ।"[1] यह उस वर्ग के कर्म, चिन्तन और भावों में प्रकट होती है, रचना के स्तर पर जिसकी अभिव्यक्ति धारणा और कल्पना के माध्यम से होती है ।

गोल्डमान नें विश्वदृष्टि के सम्बन्ध में जो महत्वपूर्ण बात कही वह यह है कि - "विश्व दृष्टियों की संख्या बहुत सीमित है ।"[2] चूँकि वर्ग दृष्टि का सम्बन्ध क्रमश: इतिहास, समाज और वर्ग से है, अत: प्रत्येक विश्व-दृष्टि की सार्थकता, बदली परिस्थितियों के अनुसार घटती बढ़ती रहती है । उन्होंने माना कि, "सामाजिक यथार्थ बदलता है । उसके अनुरूप यदि विश्व-दृष्टि नहीं बदलती है तो वह हठधर्मिता का रूप धारण कर लेती है ।"[3]

विश्वदृष्टि का सम्बन्ध उन्होंने वैयक्तिक चेतना के बजाय परावैयक्तिक विषयों से जोड़ा, जो इन विषयों में हिस्सा लेने वाले की, मानसिक संरचना में मौजूद होते है । इन संरचनाओं की स्थिति उन्होंने चेतना के एक विशेष स्तर, "चेतन-इतर" में मानी जोकि चेतन और अचेतन दोनों से अलग स्थिति है । उन्होंने माना कि किसी कलाकार की रचना का गठन और किसी सामाजिक समूह की दैनन्दिन चेतना "एक हद तक कठोर सजातीयता के बन्धन में बँधी होती है ।"[4] यही कारण है कि उनकी पद्धति में, "विश्वदृष्टि की खोज का

---

1. मैनेजर पाण्डेय - साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ०-149.
2. वही, पृ०-149.
3. Lucien Goldmann - Methods in Sociology of Literature. (अनु० निर्मला जैन - साहित्य का समाजशास्त्रीय चिन्तन, पृ०-50)
4. प्रो० निर्मला जैन (सं०) साहित्य का समाजशास्त्रीय चिन्तन, पृ०-52.

आरम्भ कृति के अध्ययन से होता है न कि वर्ग के अध्ययन से ।"[1] गोल्डमान द्वारा प्रयुक्त विश्वदृष्टि वस्तुत: विचारधारा या वर्ग चेतना से भिन्न है । विचारधारा को गोल्डमान ने छद्म चेतना माना है और विश्वदृष्टि को किसी सामाजिक समूह या समुदाय की सम्भावित चेतना की अभिव्यक्ति । स्पष्टत: गोल्डमान के द्वारा विकसित साहित्य के समाजशास्त्र का लक्ष्य है कृति की आन्तरिक एकता में उसकी विश्वदृष्टि की खोज और उस विश्वदृष्टि से उसके मूलभूत सामाजिक समूह की विश्वदृष्टि के सम्बन्ध का विवेचन ।

गोल्डमान की विश्लेषण-पद्धति का दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष है कृतियों के रूप, शिल्प और भाषा का विवेचन । उनकी मान्यता थी कि कृति के गहन विश्लेषण एवं समझ के लिए उसकी अन्तर्वस्तु ही नहीं वरन् उसके बाहरी रूप की परख भी जरूरी है । उन्होंने लिखा कि, "रूप और शैली का विवेचन आलोचना का अनिवार्य दायित्व है ।"[2] उन्होंने कृति के रूप पक्ष को वस्तुत: आन्तरिक एवं वाह्य दो रूपों में देखा । पहला है कृति मे विश्वदृष्टि की सुसंगत एवं समुचित अभिव्यक्ति का रूप और दूसरा है उसके माध्यम का रूप । "हिडेन गाड" और "उपन्यास का समाजशास्त्र" में क्रमश: चिन्तक पास्कल और नाटककार रासीन की त्रासदी की विश्वदृष्टि की खोज के क्रम में उनकी स्थापनाओं को देखा जा सकता है । "उपन्यास का समाजशास्त्र" में उन्होंने बुर्जुआ उपन्यास के क्रमिक ह्रास के सामाजिक कारणों का निरूपण किया है ।

---

1. डॉ. मैनेजर पाण्डेय - साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ.-149.

2. Lucien Goldmann - The Human Sciences and Philosophy. (अनु. निर्मला जैन (सं.) साहित्य का समाजशास्त्र की भूमिका, पृ.-158)

पास्कल और रासीन की रचनाओं में व्यक्त त्रासदीय दृष्टि को उन्होंने "अस्वीकार की त्रासदी" कहा है, जिसमें परस्पर विरोधी विचारों और भावों की एकता मिलती है । इन रचनाकारों की आरम्भिक रचनाओं में ट्रैजिक विजन का अभाव है । लेकिन बाद में वह स्पष्ट रूप से दिखाई देता है ।

गोल्डमान के अनुसार साहित्यिक कृति एवं इतिहास के बीच विश्वदृष्टि के स्तर पर संरचनात्मक सम्बन्धों की खोज की प्रक्रिया दोहरी है जिसमें एक बार कृति से समाज की ओर जाने तथा दूसरी बार कृति से समाज की ओर लौटने की आलोचनात्मक प्रक्रिया चलती है । तभी किसी रचना की दुनिया और किसी वर्ग की विश्वदृष्टि के बीच समान बिन्दुओं की पहचान की जा सकती है ।

गोल्डमान का उत्पत्तिमूल संरचनावाद केवल साहित्य के समाजशास्त्र का सिद्धान्त नहीं है बल्कि वह संस्कृति के समाजशास्त्र का भी सिद्धान्त है, जिसमें समाज से संस्कृति के ऐतिहासिक-सामाजिक और सौन्दर्यबोधीय सम्बन्धों की खोज की गयी । वस्तुत: गोल्डमान का उद्देश्य एक ऐसी पद्धति का विकास था जिसके सहारे कलाकृतियों का व्यापक ऐतिहासिक सामाजिक प्रक्रिया की समग्रता के भीतर मनुष्य की सार्थक क्रियाशीलता का विवेचन हो सके । इस रास्ते में अनेक बाधाएं थीं । मसलन रूपवादी आलोचना की बाधा, जिसकी चर्चा मैंने पूर्व में की थी । दूसरी बाधा मनोवैज्ञानिक आलोचना की ओर से थी, जो कलाकृतियों को अनुभव और तथ्य के रूप में स्वीकार करती थी ।

गोल्डमान की चिन्तन पद्धति अन्य विचारकों से इस मायने में अलग है कि वह साहित्य और समाज के सम्बन्धों की पड़ताल में कृति की अन्तर्वस्तु के बजाय उसके संरचनात्मक विश्लेषण को ज्यादा महत्व देती है ।

गोल्डमान पर हमेशा यह आरोप लगता रहा कि उन्होंने साहित्य के सबसे आधारभूत तत्व भाषा की उपेक्षा की । वास्तविकता यह नहीं है क्योंकि गोल्डमान ने "द ह्यूमन साइंसेज एण्ड फिलासफी" ग्रन्थ में "अन्तर्वस्तु के साथ बाहरी रूप के विवेचन को आलोचना का अनिवार्य दायित्व बताया ।"[1] गोल्डमान उनके रचना कर्म और विश्लेषण पद्धति पर अनेक आरोप लगे, उनकी अनेक सीमाएं रेखांकित करने का प्रयास हुआ । उनमें से अधिकांश का उत्तर स्वयं गोल्डमान ने ही दिया । उनकी खूबी यह है कि उन्होंने लगातार आत्म-विश्लेषण की प्रवृत्ति बनाए रखी है । अपने ऊपर लगाए गए एक महत्वपूर्ण आरोप को स्वीकार करते हुए उन्होंने स्वयं लिखा, "कलाकृति की अन्विति पर इस अचिति और कुछ सामूहिक समूहों की चेतना के सम्बन्ध पर अधिक से अधिक जोर देने के परिणाम स्वरूप हमने कलाकृति की समृद्धि और जटिलता की उपेक्षा कर दी, हालांकि उसके महत्व को पहचानने में हमने कोई चूक नहीं की ।"[2]

गोल्डमान पर दूसरा आरोप यह है कि गोल्डमान ने विश्वदृष्टि और उसकी सामाजिक सृष्टि पर अधिक बल देते हुए कलात्मक प्रतिभा का अवमूल्यन किया । परन्तु उन्होंने विश्वदृष्टि की धारणा के साथ यह भी कहा कि - "कुछ विरल व्यक्ति ही ऐसे होंगे जिनके लेखन चित्र संकल्पनात्मक विचार आदि की संरचना, उनसे जुड़े हुए परावैयक्तिक विषयों में से किसी एक की मानसिक संरचना समानधर्मी हो ।"[3] यहाँ जिस विरले व्यक्ति की बात की

---

1. ल्यूसिए गोल्डमान - द ह्यूमन साइंसेस एण्ड फिलॉसफी
   (अनु. मैनेजर पाण्डेय - साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ.-158)
2. प्रो. निर्मला जैन (सं.) साहित्य का समाजशास्त्रीय चिन्तन, पृ.-59)
3. ल्यूसिए गोल्डमान - टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेंट, 1967, सितम्बर
   (अनु. लेखक)

गयी है वह प्राकारान्तर से कलात्मक प्रतिमा की स्वीकारोक्ति ही है । इसके अतिरिक्त गोल्डमान ने "साहित्य में आलोचना और कट्टरपंथ" नामक निबन्ध में अपनी विश्लेषण पद्धति की अनेक सीमाएं स्वयं स्वीकार की हैं । उन्होंने माना कि उनकी पद्धति में साहित्यिक कृति की रचनात्मक समृद्धि और विविधता की उपेक्षा हुई है । रचना की ऐतिहासिकता पर अधिक बल देने के कारण उसके कालजयीपन पर अधिक विचार नहीं हुआ । कृति के वर्गीय आधार की व्याख्या तो हुई है पर वर्ग से परे उसकी मानवीय सार्थकता छूट गयी है । यही नहीं एक सजग और खुले दिमाग वाले आलोचक की तरह गोल्डमान ने अपने दृष्टिकोण के विकास की नई दिशाओं की ओर भी संकेत किया है । रचना में एकता के विरूद्ध विविधता की पहचान के साथ रचना का विश्लेषण करते हुए भी यह देखना आवश्यक है कि उसमें मानव अस्तित्व की बुनियादी समस्याओं के प्रति क्या दृष्टिकोण अपनाया गया । साथ ही रचना में व्यक्ति की आकांक्षा और सामाजिक व्यवस्था के बीच टकराव के विवेचन की भी पेशकश गोल्डमान ने की ।

विश्लेषण की इन नयी दिशाओं के निर्धारण में गोल्डमान पर रूसी विचारक बाख्तिन का प्रभाव दीखता है । इस प्रकार गोल्डमान ने विविध धारणाओं को अपने चिन्तन और मौलिक समझ के अनुसार ढालते हुए एक ऐसी पद्धति का विकास किया, जो साहित्य के समाजशास्त्र को एक समर्थ आनानुशासन के रूप में स्थापित करने में सक्षम हुआ ।

जार्ज लुकाच (सन् 1885-1971 ई.)

मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन के इतिहास मे हंगेरियन विचारक जार्ज लुकाच की ख्याति"यथार्थवाद" के प्रामाणिक व्याख्याता के रूप में है । मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में जार्ज लुकाच सर्वाधिक प्रतिभा सम्पन्न एवं विवादास्पद आलोचक माने जाते है । प्रारम्भ में वे हेगेल के विचारों से प्रभावित रहे । दो महायुद्धों के बीच उनके चिन्तन को आकार मिला । उनकी प्रारम्भिक रचनाएं "द डेवलपमेन्ट ऑफ माडर्न ड्रामा" 1908, "द सोल एण्ड इट्स फार्म" - 1911 तथा "द थ्योरी ऑफ नावेल" 1920 है । 1918 में उन्होंने हंगरी की कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता स्वीकारी । "इतिहास और वर्ग चेतना" की भूमिका मे लुकाच ने ग्रन्थ को " My Road to Marxism" [1] स्वीकारा है ! इसी ग्रन्थ से लुकाच को अन्तर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि भी मिला ।

जार्ज लुकाच ने विश्व युद्ध के दौरान विभिन्न विडम्बनाओं से गुजरते हुए बौद्धिक क्षेत्र में एक वर्ग चेतना से अन्य वर्ग चेतना में अपना वैचारिक रूपान्तर स्वयं स्वीकार किया है । रोजा लक्समवर्ग के कृतित्व से वे इसी दौर में प्रभावित हुए थे । सन् 1919 ई. में हंगरी की वामपंथी सरकार के अल्पकाल में वे " Commissar of Education (शिक्षा मन्त्री) भी रहे । आस्ट्रिया प्रवास में "कम्युनिज़्म" पत्रिका में उन्होंने राजनैतिक कर्म व्यवहार की यह स्थापना करती थी कि कम्युनिस्टों को बुर्जुआ संसद में भाग नहीं लेना चाहिए । यह वही लेख है जिसकी कड़ी आलोचना लेनिन ने " Radical Marxism - a childish disease" कहकर की थी ।

---

1. George Lucas - History and Class Conscientious Preface, Page-IX-X.

इस्तवान इरोसी का कहना था कि लुकाच उस मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र को लिखने में समर्थ हुए, जो कला के क्षेत्र में "सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब प्रतिफलन सिद्धान्त" को अपने भीतर समाविष्ट करता है । लुकाच जर्मन विचारक फ्रेंज मेहरिंग व जी·बी· प्लेखानोव से काफी प्रभावित थे लेकिन उनसे पूरी तरह सहमत भी नहीं थे । कारण यह था कि मेहरिंग और प्लेखानोव दोनों ने सौन्दर्यशास्त्र की उपेक्षा की थी । प्लेखानोव अपने चिन्तन में समाजशास्त्रीय रुझान के कारण मार्क्सवादी चिन्तन में "कुत्सित मार्क्सवाद" (Vulgar Marxism) के समावेश के लिए उत्तरदायी थे । उनकी स्थापना भी थी कि - "कला में वर्ग संघर्ष के दौरान निश्चित पक्षधरता की अभिव्यक्ति होती है । और वर्ग-संघर्ष के आधार पर साहित्य की विवेचना होनी चाहिए ।"[1]

साहित्य लुकाच की प्रथम और प्रमुख रुचि थी । यदि वे ठेठ साहित्य तक ही सीमित रहते तो उनके जीवन में उतने संघर्ष न आते लेकिन ऐसा लगता है कि उनकी प्यास बड़ी थी और बेचैनी भी ज्यादा गहरी थी । यही बेचैनी लुकाच को दर्शन की ओर ले गयी । फिर राजनैतिक कर्म की ओर और अन्ततः मार्क्सवाद की ओर । "इस बेचैनी के मूल में सामान्य रूप से मध्य यूरोप और विशेष रूप से हंगरी की राजनीतिक सामाजिक परिस्थिति थी जिसमें अर्ध-विकसित पूंजीवाद और ढहते सामन्ती अवशेषों के बीच घुटते हुए प्रबुद्ध बुद्धिजीवी परिवर्तन की अस्पष्ट आकांक्षाओं को लेकर तड़प रहे थे ।"[2]

---

1. Plekhanov - The Aesthatic of George Lucacs, page-113.

2. नामवर सिंह - आलोचना, अंक-18, पृ॰-2.

उस दौर में हंगरी के रोमैन्टि क्रान्तिकारी कवि एडी के साथ लुकाच की निकटता उल्लेखनीय है । उनकी दो आरम्भिक कृतियाँ, "आत्मा और उसके रूप" (1910) तथा "उपन्यास सिद्धान्त (1916) जैसे एडी के रोमैन्टिक गीतों के निबन्धात्मक प्रतिरूप हैं, जिसमें अन्य सैद्धान्तिक बातों के अलावा युद्ध पूर्व की निराशा और बेचैनी छायी हुई दिखाई पड़ती है । "आत्मा और उसके रूप" के द्वारा लुकाच ने दार्शनिक चर्चा में कीर्केगार्द का पुन: प्रवेश कराया जिसके कारण लुकाच की उस पुस्तक को आज भी आधुनिक आस्तित्ववाद का श्री गणेश माना जाता है । "उपन्यास-सिद्धान्त" में भी कीर्केगार्द की छाया स्पष्ट है । "महाकाव्यों के सामुदायिक जीवन से लेकर उपन्यासों के व्यक्तिवाद तक निरन्तर ह्रास के रूप में समय की जो गति उपन्यास सिद्धान्त में अंकित की गयी है वह कीर्केगार्द से अस्पृष्ट नहीं है ।"[1] पश्चिम की बुर्जुआ संस्कृति के ह्रास से लुकाच इतने चिन्तित थे कि उग्रवादी राजनीति के कर्म में ही उन्हें मुक्ति दिखाई पड़ी ।

"गेटे और उनका युग" (1947),"यथार्थवाद सम्बन्धी नियम" (1948), "विश्व साहित्य में रूसी यथार्थवाद" (1949), "उन्नीसवीं सदी के जर्मन यथार्थवादी" (1951), बालजाक और फ्रांसीसी यथार्थवाद (1952) ऐतिहासिक उपन्यास (1952) उनकी उल्लेखनीय कृतियां हैं । इन समीक्षा ग्रन्थों में लुकाच ने उपन्यास में थोड़े समाजशास्त्र के साहित्यिक प्रतिरूप प्रकृतिवाद का खण्डन करते हुए जीवन समृद्ध यथार्थवाद की स्थापना की । उनकी दृष्टि में यथार्थवाद ही साहित्य में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रतिनिधित्व करता है ।

---

1. नामवर सिंह - आलोचना, अंक-18, पृ--2.

इस प्रकार उन्होंने साहित्य में भी द्वन्द्ववाद की केन्द्रीय धारणा की स्थापना की । उनकी रुचि उपन्यास में थी और उपन्यासकारों में भी उन्हें 19वीं सदी के महान यथार्थवादी उपन्यासकार सबसे अच्छे लगे । कहने की आवश्यकता नहीं कि लुकाच के लिए यह एक अनुकूल स्थिति थी । इसी आधार पर उन्होंने अपने साहित्यिक प्रतिमान भी स्थिर किए । वाल्टर स्काट, गेटे, बालजाक, टालस्टाय, और टामस मॉन उनके साहित्यिक आदर्श थे । 19वीं सदी के महान लेखकों का मार्क्सवादी मूल्यांकन करके लुकाच ने मार्क्सवादी आलोचना को विश्वसनीय बनाया । यह उन्नीसवीं सदी उनकी ताकत भी है और सीमा भी । मास्को प्रवास के दौरान जार्ज लुकाच ने अपने निबन्धों द्वारा मार्क्स-एंजेल्स और लासाल के बीच हुई बहस के प्रश्नों को आगे बढ़ाया । ये निबन्ध एक तरह से लुकाच के भावी चिन्तक की भूमिका निभाते हैं । लुकाच ने अपने कृतित्व को उन्नीसवीं सदी के रचनाकारों तक ही सीमित नहीं रखा बल्कि 20वीं सदी के साहित्यकारों के लेखन का मूल्यांकन भी किया । सन् 1956 ई॰ मे उन्होंने "समकालीन यथार्थवाद का अर्थ" नामक पुस्तक लिखी और अन्ततः काँफ्का और बेकेट जैसे आधुनिक कथाकारों का मूल्यांकन भी किया । उनके इस मूल्यांकन की सीमाओं को रेखांकित करते हुए नामवर सिंह ने लिखा कि - "इसमें कोई शक नहीं कि काफ्का और सैमुअल बेकेट के मूल्यांकन में लुकाच का मत कट्टर मार्क्सवादी आलोचकों से भिन्न नहीं है किन्तु इतना अवश्य है कि लुकाच ने इन्हें सीधे-सीधे सरसरी तौर पर तिरस्कृत करने की अपेक्षा इनकी रचनाओं की गहराई में प्रवेश करने का प्रयास किया ।"[1] इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि लुकाच एक अर्से तक बर्तोल्द ब्रेख्त के नाटकों को भी अपने यथार्थवादी निकष पर खोटा मानते रहे ।

1॰ नामवर सिंह - आलोचना, अंक-18, जुलाई-सितम्बर- ,पृ॰-7.

इन सीमाओं के बाद भी एक आलोचक के रूप में लुकाच की बौद्धिक ईमानदारी प्रशंसनीय है । स्टालिनवाद की छाया में रहते हुए भी उन्होंने समाजवादी यथार्थवादी के नाम पर लिखी यान्त्रिक कथाकृतियों की कड़ी आलोचना की और उनमे निहित मार्क्सवाद के विकृत रूप अर्थवाद का उद्घाटन किया ।

पश्चिम में उपन्यास के समाजशास्त्र के निर्माण में लुकाच का योगदान किसी भी दूसरे आलोचक से अधिक है । इस सन्दर्भ में "उपन्यास का सिद्धान्त" "समकालीन यथार्थवाद का अर्थ" और "यूरोपीय यथार्थवाद का अनुशीलन" आदि पुस्तकें उल्लेखनीय हैं । उपन्यास-आलोचना के सन्दर्भ में ही लुकाच ने "आलोचनात्मक यथार्थवाद" की अवधारणा दी । लुकाच ने ईमानदारी को सच्चे यथार्थवाद की कसौटी कहा है । विचारधारा से यथार्थवाद के विरोध और यथार्थवाद की विजय का रहस्य खोजने के लिए लुकाच लेखक की चेतना की गहराई में उतरे है । उनका मानना था कि - "लेखक की विश्वदृष्टि और यथार्थ चित्रण के बीच विरोध वास्तव में लेखक की चेतना के दो स्तरों में बसने वाली विश्वदृष्टियों के बीच का विरोध है ।"[1] वस्तुत: किसी व्यक्ति की विचारधारा केवल उसके कथनों और घोषणाओं के आधार पर नहीं जानी जा सकती । रचनाकार की विचारधारा उसके रचना कर्म में व्यक्त होती है, और उसी के आधार पर उसे समझा जा सकता है ।

---

1. मैनेजर पाण्डेय - साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ--237.

ख. भारतीय समाजशास्त्रियों की साहित्यालोचना

भारत में समाजशास्त्रियों द्वारा कला एवं साहित्य के मूल्यांकन की परम्परा लम्बी और सुचारू नहीं है । इसके बावजूद भारतीय समाज-शास्त्रियों ने साहित्य पर लेखन का कार्य किया है । इनमें डी॰पी॰ चट्र्जी, श्यामाचरण दूबे, पी॰सी॰ जोशी आदि प्रमुख नाम हैं । समाजशास्त्रियों द्वारा साहित्य का मूल्यांकन अनायास नहीं है । बल्कि यह समाजशास्त्र की एक महत्वपूर्ण विधा के रूप में उभर कर सामने आयी है । इस पद्धति के अनुसार साहित्य को मूल सामग्री मानकर समाज का अध्ययन किया जाता है । विभिन्न साहित्य एवं कला आन्दोलन के लिए तत्कालीन स्थितियाँ ही नहीं बल्कि पूर्व की स्थितियाँ भी जिम्मेदार होती हैं । इन स्थितियों के विश्लेषण के लिए समाज का विवेचन जरूरी हो जाता है । यानी एक ओर साहित्य के अध्ययन के लिए सामाजिक परिदृश्य और परम्परा का अध्ययन जरूरी होता है उसी प्रकार समाजशास्त्र के अध्ययन के लिए साहित्य एक महत्वपूर्ण मूल सामग्री है । छठवें-सातवें दशक में साहित्य के आधार पर लैंगिक भेद, परिवार के बदलते स्वरूप पुरुष-स्त्री सम्बन्ध पर अध्ययन की प्रवृत्तियाँ दिखलाई देती है । हालांकि यह एक तथ्य है कि पश्चिम में कला और साहित्य का खूब विकास हुआ है, लेकिन यह देखकर आश्चर्य होता है कि उस विकास का भारतीय समाजशास्त्र पर निर्णायक प्रभाव नहीं है ।

1. घूर्जटि प्रसाद मुखर्जी

समाजशास्त्र के लखनऊ स्कूल से जुड़े डी॰पी॰ मुखर्जी ने हिन्दी साहित्य पर स्वतन्त्र रूप से तो विचार नहीं किया है लेकिन उनका लेखन साहित्य को देखने के समाजशास्त्री नज़रिए की दृष्टि से महत्वपूर्ण है । 1952 में अपने एक लेख में मुकर्जी ने भारतीय साहित्य के समाजशास्त्र के विकास की तीन कठिनाईयों की ओर संकेत किया था । पहला ये कि समाजशास्त्र की दृष्टि और पद्धति से अपरिचय दूसरा था मार्क्सवाद का सरलीकरण और तीसरा था साहित्य की दुनिया से समाजशास्त्रियों की उदासीनता[1] साहित्य के समाजशास्त्र के विकास की दिशा में ये कठिनाईयां बनी हुई है । इसका एक प्रमुख कारण साहित्य और समाजशास्त्र के जीवन्त सम्बन्ध का अभाव है । इस सम्बन्ध में डी॰पी॰ मुखर्जी का चिन्तन भारतीय कला और साहित्य के समाजशास्त्र के विकास का प्रेरक बन सकता है । इसलिए उनके विचारों की विस्तार से चर्चा आवश्यक है । चूँकि डी॰पी॰ मुखर्जी अर्थशास्त्री और समाजशास्त्री थे, लेकिन इनके साथ ही वे साहित्यकार भी थे । वे अपने समय के बंगला साहित्य के प्रसिद्ध कथाकार और समालोचक थे । बंगला में प्रकाशित उनकी अधिकांश किताबें कथा साहित्य और आलोचना की कृतियाँ हैं । उनकी दस पुस्तकें बंगला और नौ पुस्तकें अंग्रेजी में प्रकाशित हैं । बंगला में उन्हें साहित्य का प्रेमी माना जाता है तो देश के अन्य भागों में वे समाजशास्त्री और अर्थशास्त्री के रूप में जाने जाते थे । उन्होंने रवीन्द्र नाथ टैगोर और दूसरे बंगला रचनाकारों की रचनाओं का गम्भीर मूल्यांकन किया है । डॉ॰ मैनेजर पाण्डेय के अनुसार - "वे आधुनिक बंगला साहित्य के निर्माण और विकास की प्रक्रिया से गहराई से जुड़े हुए थे । एक तरह से वे आधुनिक बंगला साहित्य के निर्माताओं में से एक थे । ... भारतीय कला के विभिन्न रूपों की परम्परा के ज्ञान, समकालीन

---

1. घूर्जटि प्रसाद मुखर्जी, डाईवर्सिटिज, पृ॰-298 (अनु॰ लेखक)

विकास से घनिष्ठ आत्मीयता और उसकी भावी संभावनाओं की सच्ची चिन्ता के कारण ही उनके कला सम्बन्ध लेखन में वो प्रामाणिकता है जो आज भी भारतीय कला और साहित्य के समाजशास्त्र के विकास में सहायक बन सकती है ।"[1]

डी॰पी॰ मुखर्जी बंगाल नवजागरण की परम्परा से जुड़े थे । उनके लेखन में उपनिवेशवाद विरोधी चेतना दिखाई पड़ती है । उनके रचनाकर्म की शुरूआत राष्ट्रीय आन्दोलन के परिवेश में हुई । उनके लेखन में समाज की आर्थिक राजनीतिक और सांस्कृतिक समस्याएं परस्पर जुड़ी हैं । इसलिए ये तमाम पक्ष एक दूसरे से परस्पर जुड़े हुए हैं । "डाइवर्सीटिज" की भूमिका में उन्होंने लिखा कि - "मुझे व्यापक सन्दर्भों में सोचने की दीक्षा मिली है । इसलिए मैं ब्योरों की बारीकियों पर ध्यान रखते हुए भी समग्रता की उपेक्षा नहीं कर पाता । तात्पर्य यह है कि मैं पेड़ों को गिनते समय जंगल के समग्र रूप को ध्यान में रखता हूँ ।"[2] उन्होंने समाजशास्त्र को भारतीय समाज, परम्परा और मनुष्य से जोड़ने की लगातार वकालत की । उनका मानना था कि भारतीय समाजशास्त्री के लिए सिर्फ समाजशास्त्री होना काफी नहीं है बल्कि उसे भारतीय होना चाहिए, इसका तात्पर्य यह है कि समाजशास्त्री को भारतीय समाज के बाहरी और भीतरी स्वरूप को समझने के लिए जन-जीवन की पद्धति मान्यताएं, रीति-रिवाज और परम्परा आदि को ठीक से जानना जरूरी है ।

1॰ डॉ॰ मैनेजर पाण्डेय - साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ॰-80.
2॰ घूर्जरी प्रसाद मुखर्जी - डाईवर्सीटिज भूमिका से ।

उसे भारतीय समाज के वर्गीय परम्पराओं से परिचित होना चाहिए । एक ओर जहाँ अभिजात परंपरा के ज्ञान के लिए संस्कृत जानना जरूरी है वहीं जन-संस्कृति के ज्ञान के लिए बोलियों का ज्ञान जरूरी है । आज समाजशास्त्र की एक प्रमुख समस्या भारतीयता का अभाव है । इसके लिए उन्होंने भारतीय परंपरा के अनुशीलन पर बल दिया । उनका यह मानना था कि जो विज्ञान केवल तथ्यों को महत्व देता है किसी और बात को नहीं उसे वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता । परंपरा केवल तथ्य नहीं है, बल्कि वह विस्मृत तथ्य है । परंपरा के वैज्ञानिक अध्ययन का मतलब तथ्यों की खोज नहीं, बल्कि तथ्य, मूल्य मान्यताएं और प्रतीक आदि के बीच सम्बन्ध की खोज है । साहित्य में प्रतीकों का महत्व हुआ करता है । इसका महत्व रेखांकित करते हुए डी॰ मुखर्जी कहते हैं कि - "प्रतीक कभी-कभी सर्जनात्मक रूप से विस्फोटक और गतिशील होते हैं । उनमें निहित मूल्यों का विशिष्ट सामाजिक संरचनाओं और ठोस ऐतिहासिक स्थितियों से गहरा सम्बन्ध होता है ।"[1]

डी॰पी॰ मुखर्जी का कला और साहित्य सम्बन्धी समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण उनके भारतीय कला एवं साहित्य सम्बन्धी विवेचन में व्यक्त हुआ है । 1956 के "सामाजिक परिवर्तन और बौद्धिक दिलचस्पी" नामक लेख में उन्होंने भारतीय कला की समकालीन परिस्थितियों की व्याख्या की है । साहित्य और कला के समाजशास्त्र के लिए उन्होंने आवश्यक सावधानी बरतने की बात कही है । उनका मानना था कि कलाएं अनेक हैं जिसके अभिव्यक्ति

1॰ धूर्जटि प्रसाद मुखर्जी - डाइवर्सिटिज - पृ॰-239-40 (अनु॰ लेखक)

की अमूर्तन की प्रक्रियाएं भी अलग-अलग हैं और उनके विम्ब विधान भी अलग-अलग हैं । इसी तरह सामाजिक परिवर्तन के भी अनेक रूप हैं तथा उनकी व्यापकता तथा गहराई में भी फर्क है । साहित्य, चित्रकला और संगीत की भाषाओं में प्रतीक विधान की प्रक्रिया एक जैसी नहीं होती । कला एवं साहित्य के समाजशास्त्री के सामने यह सवाल होता है कि विशेष सामाजिक परिवर्तन किसी कला में विशेष प्रकार के प्रतीक विधान और बिम्ब निर्माण को कैसे प्रभावित करता है । उनका मानना था कि कला के रूप और अन्तर्वस्तु में परिवर्तन समाज से प्रभावित होता है । इसलिए दोनों स्तरों पर सामाजिक परिवर्तन के प्रभाव की खोज जरूरी है ।

आधुनिक जीवन के यथार्थ में शामिल वस्तुएं साहित्य में स्थान पा रही हैं । उनकी सबसे अधिक अभिव्यक्ति उपन्यासों और कहानियों में हो रही है । कविताओं में सिर्फ प्रेम और प्रकृति का ही चित्रण नहीं हो रहा है बल्कि शहर की गन्दी बस्ती, रद्दी की टोकरी, काले कौवे, हड़ताल आदि पर भी कविताएं लिखी जा रही हैं । कला और साहित्य के समाजशास्त्र में अन्तर्वस्तु के स्तर पर ही सामाजिक परिवर्तनों के प्रभाव की खोज पर्याप्त नहीं है बल्कि मुखर्जी ने कला की चेतना और रूप के स्तर सामाजिक परिवर्तनों की अभिव्यक्ति के विवेचन की माँग की । "कथा साहित्य की सामाजिक समस्याएं" नामक लेख में उन्होंने उपन्यास के समाजशास्त्र पर विचार किया है । चूँकि ये स्वयं कथाकार थे इसलिए लेख में उपन्यास के रचना-विधान के विभिन्न पक्षों का बारीकियों से विवेचन किया है । उन्होंने लिखा कि - "आधुनिक उपन्यास आधुनिक जीवन पद्धति का सहभागी है । "गोरा" और "घरे-बाइरे" की लोकप्रियता का कारण लेखक की कुशल संवाद कला है । चरित्रों

में आत्ममंथन की प्रवृत्ति अधिक है जो आधुनिक युग की विशेषता है ..... आधुनिक उपन्यास में कथानक से अधिक महत्व चरित्रों का है ।"[1]

डी॰पी॰ मुखर्जी की मान्यता है कि - "आज के जमाने में समस्या मूलक उपन्यास की ही सार्थकता है क्योंकि ऐसे उपन्यासों का अन्तर्वस्तु सामाजिक होता है । उपन्यास में रूप और अन्तर्वस्तु के स्तर पर सामाजिक प्रक्रिया की अभिव्यक्ति होती है, समाज की नहीं, और सामाजिक प्रक्रिया द्वन्द्वात्मक होती है। इसलिए उसमें कदम-कदम पर समस्याओं का सामना करना पड़ता है ।"[2] 1950-52 के निबन्ध "भारतीय साहित्य का समाजशास्त्र" में उन्होंने बंगला, हिन्दी और उर्दू के आधुनिक साहित्य का ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय विश्लेषण किया है । मुखर्जी की पद्धति का विवेचन करते हुए डॉ॰ मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है कि - "वे पहले साहित्य की प्रक्रिया की पहचान करते हैं, फिर उसके सांस्कृतिक स्रोतों की तलाश करते हैं और अन्त में सांस्कृतिक प्रक्रिया के मूलाधार के रूप में सामाजिक प्रक्रिया की खोज करते हैं । इस तरह साहित्य से संस्कृति और संस्कृति से समाज की ओर उनकी विवेचन पद्धति गतिशील होती है । उनकी पद्धति में साहित्य की समाजशास्त्रीय व्याख्या का अर्थ है उसका ऐतिहासिक, गतिशील, सांस्कृतिक और सामाजिक विश्लेषण ।"[3]

---

1. धूर्जटि प्रसाद मुखर्जी - डाइवर्सीटिज, 285-86 (अनु॰ लेखक)
2. वही, पृ॰-297॰ (अनु॰ -लेखक"
3. डॉ॰ मैनेजर पाण्डेय - साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ॰-86.

भक्तिकाल के बारे में उन्होंने लिखा कि इसका ऐतिहासिक महत्व लोक भाषाओं के उदय और विभिन्न जातियों की सांस्कृतिक विशेषताओं की अभिव्यक्ति में है । भक्ति काव्य में सम्पूर्ण भारतीय साहित्य की परम्परा के पुनर्नवीनीकरण की प्रक्रिया दिखाई देती है । इसमें नए काव्य रूपों का विकास होता है, परिणामस्वरूप लोक काव्य रूपों का विकास हुआ । सन्त काव्य की विद्रोही चेतना के बारे में लिखा कि उनकी वैयक्तिकता पुरोहितवाद की विरोधी है और प्रेम का सिद्धान्त कर्मवाद का । एक बन्द समाज में रहस्यवाद कैसे क्रान्तिकारी भूमिका निभाता है यह भक्तिकाल के साहित्य में देखा जा सकता है । उन्होंने भक्ति आन्दोलन और नवजागरण की तुलना करते हुए लिखा कि - "उन्नीसवीं सदी के नवजागरण की विडम्बना यह है कि उसमें सामाजिक हित की चिन्ता है लेकिन जनता की कोई धारणा नहीं है । परिणामत: उससे खण्डित व्यक्तित्व और विभाजित संस्कृति का विकास हुआ । भक्तिकालीन जागरण की त्रासदी यह है कि उसमें समाज की स्वीकृति है लेकिन सामाजिक हित की कोई धारणा नहीं है । परिणामत: उससे खण्डित व्यक्तित्व और विभाजित संस्कृति का विकास हुआ ।"[1]

स्वदेशी आन्दोलन ने भारतीय गाँवों की ओर ध्यान देने पर जोर दिया तो स्वछन्दतावादी काव्य में ग्रामीण जीवन को गौरवान्वित करने की भावना बढ़ी । डी॰पी॰ मुखर्जी ने उन्नीसवीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के आरम्भ में प्रेरणा देने वाले विश्वासों और मूल्यों का भी विवेचन किया । उनके विवेचन का महत्व इस बात से प्रकट होता है कि उनके विवेचन के दशकों

---

1. धूर्जटि प्रसाद मुखर्जी - डाइवर्सिटिज, पृ॰-298.

बाद भी अनेक आलोचक, समाजशास्त्री किसी-न-किसी रूप में उनकी स्थापनाओं को प्रतिध्वनित करते हुए दिखाई देते हैं ।

2. पूरनचन्द्र जोशी

डी॰पी॰ मुखर्जी के लखनऊ स्कूल की समाजशास्त्रीय परम्परा को विकसित करने का कार्य पूरनचन्द्र जोशी ने किया । उन्होंने अपने लेखन में मूलतः कथा साहित्य का विवेचन किया और कथा साहित्य में भी उनका मूल्यांकन प्रेमचन्द्र के रचनाकर्म के विवेचन पर केन्द्रित है । उनके लेखन में संस्कृति की व्यापक अवधारणा के सन्दर्भ में साहित्य को देखने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है । इसके कारणों की व्याख्या करते हुए स्वयं जोशी जी कहते हैं कि - "मेरा संस्कृति को समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में देखने का एक कारण यह भी है कि मैं उस घराने का हूँ जिसे अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र का लखनऊ स्कूल कहा जाता है । यह स्कूल स्वतन्त्रता संग्राम की उपज था और मेरे विद्वान शिक्षक, प्रो॰ राधाकमल मुखर्जी और प्रो॰ धुर्जटि प्रसाद मुखर्जी ने स्थापित किया था । उन्होंने मुझे अर्थशास्त्र को एक संस्कृति के विषय की तरह देखना सिखलाया और यह भी कि सांस्कृतिक जीवन को आर्थिक जीवन से अलग रखकर नहीं देखा जाना चाहिए ।"[1] साहित्य के बारे में उनका यह कथन अत्यन्त समीचीन है कि - "मूल्यों और नैतिकता से अपनी जड़े होने के कारण समाजशास्त्र और संस्कृति के बीच एक असमाप्य सम्बन्ध होता है ।"[2]

---

1. पूरनचन्द्र जोशी - संस्कृति और सम्प्रेषण भारतीय परिदृश्य, पूर्वग्रह, अंक-58, पृ॰-5.
2. वही, पृ॰-5.

भारतीय समाज में संस्कृति और राजनीति के सम्बन्ध और साहित्य पर उसके प्रभाव की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा कि - "दूसरे औपनिवेशिक और अर्ध सामन्ती देशों की तरह भारत में भी संस्कृति और राजनीति का गहरा सम्बन्ध था । ··· रवीन्द्र नाथ टैगोर को ही लें, वे संस्कृति के क्षेत्र की महान प्रतिभा थे, उन्हीं के व्यक्तित्व की विभिन्न अन्तर्धाराओं को देखें । एक कलाकार की तरह उन्हें राजनीति से खासा संकोच था ।"[1] टैगोर के अवदान का मूल्यांकन करते हुए उन्होंने लिखा कि - "यह गौरव टैगोर को ही है कि उन्होंने विदेशी शासन में फंसी भारतीय भाषा को उस सृजनात्मक ऊँचाइयों तक पहुँचाया जहाँ वह वैश्विक दृश्य में अपना विशिष्ट स्थान पा सकी ।

"समाजशास्त्रीय विश्लेषण पद्धति से साहित्य की व्याख्या की साहित्य की व्याख्या की सामाजिक सार्थकता बढ़ सकती है । बशर्ते कि अतीत के साहित्य का विवेचन करते समय व्याख्याकार वर्तमान समाज और साहित्य की वास्तविक स्थितियों तथा सम्भावनाओं के प्रति सजग हो । पी·सी· जोशी ने प्रेमचन्द की कृतियों का जो विवेचन किया है उनमें ऐसी सजगता है ।"[2] प्रेमचन्द हिन्दी के महान सम्भावनाओं वाले रचनाकार थे । अनेक भाषाओं में उनके साहित्य का विवेचन किया गया है । इसके बावजूद पी·सी· जोशी की दृष्टि में नयापन है । 'मुन्शी प्रेमचन्द और भारतीय गाँव' नामक लेख में उन्होंने लिखा कि - "उपन्यासकार इतिहास को

1· पूरनचन्द्र जोशी - संस्कृति और सम्प्रेषण : भारतीय परिदृश्य, पृ·-6.
2· डॉ· मैनेजर पाण्डेय - साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ·-91.

जीवन्त बनाकर प्रस्तुत करता है जबकि पारम्परिक इतिहासकार घटनाओं का वर्णन करता है, और इस तरह इतिहास का केवल ढाँचा ही सामने ला पाता है । यह उपन्यासकार ही है जो ऐतिहासिक व्यवस्था में विशिष्ठ वैयक्तिक चरित्रों का निर्माण करता है और इस तरह इतिहास को मानवीय विषयवस्तु से भरता हुआ उसे मानवीय बनाता है ।"[1] इसी लेख में जोशी जी ने प्रेमचन्द के हवाले कहते हैं कि इतिहास में नामो और वर्षों के अलावा कुछ भी वास्तविक नहीं होता जबकि साहित्य में नामों और वर्षों के अलावा कुछ भी अवास्तविक नहीं होता ।

प्रेमचन्द की भारतीय साहित्य में क्या स्थिति है इसका उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं कि - "सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में यदि कोई एक ऐसा नाम मस्तिष्क में आता है जिसने साहित्यिक संवेदनशीलता को इतिहासबोध मे ढालकर अपने लेखन को विशिष्ट बनाया तो वह नाम मुन्शी प्रेमचन्द का है ।"[2] जिस तरह बालजाक, जोला और डिकेन्स विश्वसाहित्य मे अपनी उस भेदक अन्तर्दृष्टि के कारण अमर हुए जो सामन्तशाही के ह्रास और व्यापारवाद के उत्थान से जुड़े हुए महान् मानवीय नाटक को देख सकी । जोशी जी के अनुसार - "प्रेमचन्द उपन्यासकार के रूप में भारतीय गाँवों पर औपनिवेशिक प्रभाव से उत्पन्न महान् मानवीय त्रासदी के हिला देने वाले चित्रण के द्वारा विश्व स्तर तक उठ सके ।"[3] पी॰सी॰ जोशी ने भारत की

---

1. पूरनचन्द्र जोशी - मुंशी प्रेमचन्द और भारतीय गाँव, पूर्वग्रह, अंक-46-47, पृ॰-50.
2. वही, पृ॰-50.
3. वही, पृ॰-51.

किसान समस्या को केन्द्र में रखकर प्रेमचन्द का पुनर्मूल्यांकन किया है । जिसमें एक ओर प्रेमचन्द की रचनाशीलता का ऐतिहासिक महत्व सामने आया है और दूसरी ओर आज के सन्दर्भ में उनकी अर्थवत्ता भी स्पष्ट हुई है । उनके प्रेमचन्द सम्बन्धी विश्लेषण में समाज, साहित्य और इतिहास के द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध को ध्यान में रखा है । यही नहीं उन्होंने इतिहास की इन दोनों प्रक्रियाओं के गतिशील स्वरूप की भी पहचान की है उन्होंने लिखा कि - "औपनिवेशिक युग में औपनिवेशिक शोषण का मूल आधार अर्ध सामन्ती आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था थी और इसी कारण औपनिवेशिक शोषण के विरूद्ध संग्राम को प्रामाणिकता और व्यापकता प्राप्त करने के लिए अर्ध सामन्ती अर्थव्यवस्था और समाज व्यवस्था के विरूद्ध किसान आन्दोलन की धारा से अपना सम्बन्ध जोड़ना पड़ा ।"[1]

'गोदान' में होरी जैसे अमर चरित्र की रचना के पीछे कौन से कारण निर्णायक रहे हैं इसका उल्लेख करते हुए पी·सी· जोशी ने लिखा कि साहित्यिक संवेदनशीलता और इतिहासबोध यही वह दो गुण है जो एक होकर प्रेमचन्द के गोदान में औपनिवेशिक किसान के व्यक्तिकरण के रूप में होरी जैसे अमर किन्तु त्रासद चरित्र की रचना करते हैं ।" यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि पी·सी· जोशी ने "इतिहासबोध" के साथ "साहित्यिक संवेदनशीलता" को भी कालजयी चरित्र के निर्माण में महत्वपूर्ण कारक माना । एक समाजशास्त्री द्वारा साहित्य के मूल्यांकन में साहित्यिक "संवेदनशीलता" के महत्व को स्वीकारना उल्लेखनीय है । औपनिवेशिक किसान की दुर्दशा को गहराई से समझने के लिए प्रेमचन्द जैसे लेखकों को यह आवश्यक था कि वे अर्धसामन्त कुलीन

1· पूरनचन्द्र जोशी परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम, 1987, पृ·-187.

भू-पतियों और औपनिवेशिक मध्य-वर्ग के वर्ग चरित्र और उसकी भावनाओं से ऊपर उठते । जोशी जी आगे लिखते हैं कि - "प्राचीन भारतीय रामराज्य के विपरीत ब्रिटिश उपनिवेशवादी शैतानी शासन के विरोध में इस विचारधारा में रामराज्य के वापसी की आवाज लगायी थी ।"[1] प्रेमचन्द के लिए ग्रामीण जीवन की मानवीय स्थिति को अन्दर से देखना बाहर की अपेक्षा अधिक कठिन और विकट कार्य था क्योंकि जिनकी दुर्दशा का चित्रण किया जाना था उसके और लेखक के बीच एक वर्गीय खाई थी । ऐसी हालत में लेखक के उच्च वर्गीय पृष्ठभूमि के कारण उसके यथार्थ बोध का चरित्र, किसान के साथ उसके आत्मीय सम्बन्धों पर निर्भर करता था । इसके लिए लेखक को अपने उन वर्गीय पूर्वग्रहों से मुक्ति पाना जरूरी था जिसने उसके सामाजिक दृष्टिकोण को कण्डीशन किया था ।

प्रेमचन्द के कठिन मानसिक संघर्ष के तीन पक्ष सामने आते है, पहला, अपने वर्ग और जाति के वैचारिक आग्रहों तथा प्रभावों से छुटकारा दूसरा उस काल के स्वाधीनता आन्दोलन में प्रभावशाली प्रवृत्तियों की सीमाओं से मुक्ति और तीसरा उस युग की गाँधीवादी विचारधारा की सीमाओं की पहचान । पूरनचन्द जोशी ने प्रेमचन्द के मानसिक संघर्ष के इन तीनों पक्षों का विश्लेषण किया है । उनके अनुसार यही वो कारण थे जिसके परिणाम स्वरूप प्रेमचन्द किसान न होते हुए भी किसान के प्रामाणिक जीवन की अभिव्यक्ति कर सके ।

प्रेमचन्द के विचारधारात्मक संघर्ष का सबसे जटिल पक्ष गाँधीवाद के प्रभाव और उससे मुक्ति में दिखाई पड़ता है । गाँधीवाद के प्रभाव से छुटकारा

---

1. पूरनचन्द्र जोशी - मुंशी प्रेमचन्द और भारतीय गाँव, पूर्वग्रह, अंक 46-47, पृ॰-51.

पाने का मतलब था भारतीय समाज के अतीत वर्तमान और भविष्य सम्बन्धी एक पूरी विचार प्रणाली से मुक्ति । प्रेमचन्द की आरम्भिक रचनाओं पर गाँधी प्रभाव स्पष्ट है जिसके कारण प्रेमचन्द का यथार्थबोध और कला भी प्रभावित हुई है । गाँधीवाद से प्रेमचन्द के लगाव और अलगाव का विवेचन करते हुए पी·सी· जोशी ने लिखा कि - "प्रेमचन्द की आरम्भिक कृतियों में किसान समस्या के समाधान के रूप में प्रतिरोध की अपेक्षा सुधार को महत्व देने में गाँधीवादी दृष्टि का प्रभाव है । "प्रेमाश्रम" और "रंगभूमि" के प्रेमचन्द का सुधारवादी दृष्टिकोण "गोदान" में नही है । गोदान में उन्होंने यथार्थ का चित्रण करते हुए कोई समझौता नहीं किया ।"[1]

'गोदान' प्रेमचन्द की उपन्यास-कला का उत्कर्ष है इसे पी·सी· जोशी ने भी माना । गोदान के अन्तर्वस्तु और रूप की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा कि - "प्रेमचन्द द्वारा लाई क्रान्ति साहित्य के विषयवस्तु सम्बन्धी पक्ष ये उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी साहित्य के कलात्मक पक्ष में । विषयवस्तु को यथार्थवाद की ओर ले जाने का उतना ही बड़ा श्रेय प्रेमचन्द को है जितना यथार्थवादी विषयवस्तु के अनुकूल एक यथार्थवादी शिल्प, शैली और भाषा सृजन के निखार का ।"[2]

होरी का चरित्र चित्रण करते हुए जोशी जी ने लिखा कि - "सामन्ती और उभरते पूंजीवादी शोषण के विविध रूपों से त्रस्त भारतीय किसान की प्रतिक्रियाओं और समन्वयवादी रूझान के होरी के चरित्र में विशिष्टीकरण किया गया है । होरी सामन्ती और उभरते पूंजीवादी ढाँचे के अन्दर ही उसकी

1· पूरनचन्द्र जोशी - परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम, पृ·-186.
2· वही, पृ·-172.

सीमाओं से बंधा है, उसके प्रति अपने आक्रोश और विद्रोह की भावनाओं का निरन्तर दमन करता है, और अन्त में व्यवस्था से समझौता करते रहने की उसकी निष्क्रियता को जैसे लेखक ने विशिष्ट और अतिरंजित रूप में प्रस्तुत किया है, वह उसकी महान पराजय और त्रासदी का काल बन जाती है ।"[1] गोदान के अन्त पर टिप्पणी करते हुए जोशी जी लिखते हैं कि - "गोदान के अन्त में प्रस्फुटित महान पराजय और निराशा का भाव ऐतिहासिक महत्व रखता है । इसमें एक ओर अभिजात्य वर्गीय सम्बन्धों और मूल्यों के युग की त्रासदी का संकेत है और दूसरी ओर उभरती सर्वभक्षी महाजनी तथा पूंजीवादी सभ्यता के आक्रमण और विध्वंसक प्रभावों और आग्रहों का भी पूर्व संकेत है ।"[2]

साहित्य के समाजशास्त्रीय मूल्यांकन की दृष्टि को स्पष्ट करते हुए पी॰सी॰ जोशी लिखते हैं कि - "प्रेमचन्द के उदाहरण द्वारा यह समझा जा सकता है कि कथा शिल्प में दक्ष रचनाकारों द्वारा रचनाएं सामाजिक यथार्थ के मात्र चित्रण से परे जाकर इस यथार्थ की आलोचना के रूप में विकसित होती हैं । यह प्रकट होता है कि इस आलोचनात्मक व्यवहार के अभाव में खुद प्रेमचन्द औपनिवेशिक किसान की दुर्दशा को पकड़ पाने में असफल हो गए होते, उस किसान की दुर्दशा जिसका शोषण केवल आर्थिक और राजनीतिक माध्यमों द्वारा ही नहीं बल्कि मिथ्या चेतना के माध्यम से भी हुआ था ।"[3] आगे वे लिखते हैं कि - "प्रेमचन्द के उपन्यास और उनकी कहानियों का महत्व केवल औपनिवेशिक और अर्ध-सामन्ती हिन्दुस्तान के सामाजिक यथार्थ को सिर्फ

1॰ पूरनचन्द्र जोशी - परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम, पृ॰-183.
2॰ वही, पृ॰-184.
3॰ पूरनचन्द्र जोशी - मुंशी प्रेमचन्द और ग्रामीण परिदृश्य, पूर्वग्रह, (अंक 46-47), पृ॰-52.

प्रतिबिम्बित कर देने पर ही नहीं टिका है बल्कि यह प्रेमचन्द के उपन्यासों का वह क्रान्तिकारी चरित्र है जिसे उन्होंने आलोचनात्मक यथार्थवाद के परिपक्व दौर से गुजर कर अपनी साहित्यिक रचनाओं में हासिल किया था । इसी महत्व के कारण उन्हें हिन्दुस्तान की सामाजिक आलोचना के रूप में कथा साहित्य के जन्मदाता का दर्जा मिला है ।"[1]

"कर्मभूमि" और "प्रेमाश्रम" प्रेमचन्द के समन्वयवादी दृष्टि का प्रतिनिधित्व करते हैं जो एक तरफ उनके गांधीवादी दृष्टिकोण और दूसरी तरफ उनकी साहित्यिक संवेदनशीलता की मांग के बीच हुआ है । "इन उपन्यासों में केन्द्रीय पात्र किसान नहीं बल्कि सुधरा हुआ भू-स्वामी है जो उस समय के व्याकुल समाज की अगुवाई किसानों के ट्रस्टी जमींदार के रूप में करता है । गोदान में प्रेमचन्द ने गाँधीवादी दृष्टिकोण की सीमाओं से मुक्त एक समृद्ध और खुली हुई संवेदना को अर्जित किया ।"[2] गोदान के अन्त में 'होरी' की जो निराशा है वह तमाम सुधार के माध्यमों से किसान की मुक्ति की व्यर्थता को प्रमाणित करती है ।

यदि महात्मा गाँधी ने भारतीय इतिहास में राजनीतिक शक्ति और सामाजिक ऊर्जा के स्रोत के रूप में गाँव की खोज करके एक युगान्तकारी भूमिका अदा की, तो मुंशी प्रेमचन्द ने नयी कथा भूमि, मिथ और विशिष्ट चरित्रों के अक्षय स्रोत के रूप में भारतीय गाँवों की तलाश कर भारतीय साहित्य में एक नयी चेतना का जन्म दिया । गाँधी जी और प्रेमचन्द की तुलना करते हुए पी॰सी॰ जोशी कहते हैं कि - "भारतीय साहित्यिक परिदृश्य में मुंशी प्रेमचन्द

1॰ पूरनचन्द्र जोशी - मुंशी प्रेमचन्द और ग्रामीण परिदृश्य, पूर्वग्रह, अंक 46-47, पृ॰-52.

2॰ वही, पृ॰-52.

का अभ्युदय वही महत्व रखता है जो भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास के शिखर में महात्मा गाँधी के अभ्युदय का । वास्तव में जिन ऐतिहासिक प्रक्रियाओं ने महात्मा गाँधी के अभ्युदय को राजनीति के धरातल पर सम्पुष्ट किया, उन्हीं प्रक्रियाओं ने साहित्यिक धरातल में प्रेमचन्द की मदद की । वह जरूरत जो भारतीय राष्ट्रीयता का आधार शहर से हटाकर गाँव ले गयी और जो शहरों में रहने वाले, उच्च मध्य वर्ग से हटाकर गाँव में रहने वाले किसानों की ओर ले गयी वही जरूरत गाँधी के अभ्युदय के रूप में राजनीतिक अभिव्यक्ति बनी और प्रेमचन्द के अभ्युदय में सांस्कृतिक सम्प्रेषण ।"[1] इसी के परिणाम स्वरूप गाँधी के चिन्तन और प्रेमचन्द की रचनाओं में किसानों और गाँवों के समान चिन्तायें पाते हैं ।

---

1. पूरनचन्द्र जोशी - मुंशी प्रेमचन्द और ग्रामीण परिदृश्य, पूर्वग्रह, अंक 46-47, पृ॰-53.

3. श्यामाचरण दूबे

श्यामाचरण दूबे का मानना है कि - "उपन्यास जिन्दगी के सबसे नज़दीक की साहित्यिक विधा है । उसका कैनवास रचनाकार को यह अवसर देता है कि वह जीवन का बहुरंगी और बहुआयामी चित्रण कर सके । कहानी अनुभव और अनुभूति थोड़े से बिम्बों को ही अपने दायरे में समेट सकती है । जीवन की समग्रता का अंकन उसकी शिल्प सीमा से परे है । ... वहीं दूसरी ओर नाटक का चौखटा कुछ बड़ा होता है और कुछ मायनों में नाटक उपन्यास के समीप होता है ।"[1]

श्यामाचरण दूबे भारत के ऐसे समाजशास्त्री हैं जिन्होंने साहित्य पर प्रमुखता से विचार किया है । वे ऐसे समाजशास्त्रियों की परम्परा से आते हैं जिन्होंने अंग्रेजी के अलावा हिन्दी में लिखा । "परम्परा इतिहास बोध और संस्कृति" नामक पुस्तक में उन्होंने "साहित्य और समाज" खण्ड में हिन्दी साहित्य पर विचार किया है । इस पुस्तक में उन्होंने साहित्य रचना की प्रक्रिया और समाज से उसके सम्बन्ध पर गहराई से विचार किया है । उनके ये विचार साहित्य की समाजशास्त्रीय पद्धति के विकास की दृष्टि से अत्यन्त मूल्यवान हैं । साहित्य में सम्प्रेषण की समस्या पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा कि - "लेखक के मैं और पाठक के मैं के बीच तादात्म्य स्थापित होता है, पर ऐसा बहुत कम स्थितियों में हो पाता है कि लेखक का मंतव्य पाठक उसी अर्थ में ग्रहण करे जो रचनाकार को अभीष्ठ हो । सच

---

1. श्यामाचरण दूबे - परम्परा,इतिहास-बोध और संस्कृति, पृ--137.

तो यह है कि कोई भी लेखक शायद ही कभी ठीक वही कह पाता है जो वह कहना चाहता है । भाषा का माध्यम अभी भी सूक्ष्म और जटिल अनुभूतियों की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति में समर्थ नहीं है ।"[1] साहित्य के अभिग्रहण मे पाठक की भूमिका का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि - "पाठक की भूमिका, उसकी प्रकृति और उसकी बहुरंगी और अनपेक्षित प्रतिक्रियाओं की प्राय: उपेक्षा हुई है, जिसके कारण साहित्य के गंतव्य और मंतव्य दोनों को समझने में बाधा पड़ती है ।"[2]

साहित्य के माध्यम से समाज को समझने और अध्ययन करने के सम्बन्ध में श्यामाचरण दूबे गम्भीर साहित्य के साथ लोकप्रिय साहित्य के अध्ययन को भी जरूरी मानते हैं, उन्होंने लिखा कि - "किस्सा तोता मैना, वेताल पचीसी, हातिमताई जैसे लोकप्रिय साहित्य के माध्यम से मैं यह जानना चाहता हूँ कि इस साहित्य का लोक जीवन दृष्टि, मूल्यों और अभिवृत्तियों के निर्माण में क्या योगदान रहा है ।"[3] हिन्दी साहित्य में अभिव्यक्त यथार्थ की समाजशास्त्रीय महत्ता का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा कि - "प्रत्यक्ष अध्ययन का हिमायती होते हुए भी मैं साहित्य के माध्यम से भी भारतीय समाज में होने वाले परिवर्तनों को समझने की कोशिश करता रहा हूँ । प्रेमचन्द, रेणु, श्रीलाल शुक्ल, भीष्म साहनी, राही मासूम रज़ा, कृष्ण सोबती आदि की कहानियाँ और उनके उपन्यास मेरे लिए साहित्यिक रचनाएँ भी हैं, समाज वैज्ञानिक दस्तावेज़ भी । भारतीय ग्रामीण जीवन को

---

1. श्यामाचरण दूबे - परम्परा इतिहास बोध और संस्कृति, पृ--126.
2. वही, पृ--126.
3. वही, पृ--129.

उन्होंने रचनात्मक दृष्टि से और साहित्यकार की तीसरी आँख से देखा है । और उसके कुछ ऐसे पहलुओं के सूक्ष्म तत्वों की मार्मिक विवेचना की है जो हमारी शुष्क वैज्ञानिक दृष्टि और कष्टसाध्य सांख्यकीय विश्लेषण की पकड़ में नहीं आते ।"[1] इस कथन के सन्दर्भ में यह कहना समीचीन है कि साहित्य और समाज का अटूट रिश्ता है और साहित्य को समझने के लिए उसके सामाजिक सन्दर्भों को समझना जरूरी है । स्वयं श्यामाचरण दूबे ने लिखा कि - "साहित्य की सच्ची पहचान है उसकी मानवीय और सामाजिक संवेदना ।"[2]

"हिन्दी उपन्यास और ग्रामीण परिदृश्य" नामक लेख में उन्होंने उपन्यास विधा पर यथार्थ, समाज की अभिव्यक्ति, कैनवस आदि के सन्दर्भ में विचार किया है ।

देश और काल के परिवर्तन सन्दर्भों से जुड़े होने के कारण उपन्यास का रूप भी बदला है लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि आज भी वह लोकप्रियता के शिखर पर है । कुछ दशकों पहले तक भारत में उपन्यास को शंका की दृष्टि से देखा जाता था । यानी पाठक उपन्यास को कैसे लेता था और उसकी सामाजिक पहचान किस प्रकार की थी इसके बारे में श्यामाचरण दूबे लिखते हैं कि - "एक तरह से वह (उपन्यास) वयस्क साहित्य था - स्त्रियों और वय: सन्धि पार कर चुके और यौवन के पहले चरण में पहुँचे युवकों तक के लिए वर्जित इसके पढ़ने में समय की बरबादी तो थी ही चरित्र भ्रष्ट होने का भय भी था ।"[3]

---

1. श्यामाचरण दूबे - परंपरा, इतिहास-बोध और संस्कृति, पृ॰-129.
2. वही, पृ॰-130.
3. वही, पृ॰-137.

उपन्यासों में बड़े बदलाव के बाद भी समाज में उसके प्रति दृष्टि बदली नहीं है । श्यामाचरण दूबे ने लोकप्रिय उपन्यासों की लोकप्रियता के विश्लेषण की माँग की । उपन्यासों की यात्रा का उल्लेख करते हुए श्यामाचरण दूबे ने लिखा कि - "ऐयारी और तिलिस्म से चलकर आज के उपन्यास तक पहुँचते हुए इस विधा ने कई मोड़ लिए, एक काल था जब उसमें देशभक्ति का तेवर मुख्यत: परिलक्षित होता था । कुछ उपन्यासों में प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष पुरातन भारतीय संस्कृति के तत्वों को सराहा गया, कुछ में समकालीन भारतीय समाज की विकृतियों की भर्त्सना की गयी एक ओर पश्चिमी उपन्यास की रचना शैली ने हिन्दी उपन्यास को प्रभावित किया तो दूसरी ओर वहाँ की आइडियालाजी ने ।"[1] उपन्यास में पश्चिमी वादों एवं शैली की नकल का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं कि - "अजनबीपन अस्तित्ववाद, मृत्यु, भय, व्यक्तित्व की टूटन, आस्था-अनास्था का प्रश्न महानगर का परिवेश, जड़ों की तलाश आदि प्रश्नों पर लंबी-लंबी बहसें हुई और उनसे अनुप्रेरित उपन्यासों की रचना हुई । बहसों के तेवर अधिकांशत: मुखौटे थे, नकली थे अधिकांश रचनाएं भी स्वयं को प्रमाणित कर सकने में असमर्थ रहीं । विराट भारतीय सामाजिक यथार्थ से साक्षात्कार करने की क्षमता थोड़े से ही लेखकों में थी ।"[2] यानी यथार्थ चित्रण में हर रचना सफल नहीं है । हिन्दी के अनेक उपन्यासों और कमजोरियों का उल्लेख श्यामाचरण दूबे ने किया है "शेखर : एक जीवनी" और "नदी के द्वीप" को उन्होंने आत्मकेन्द्रित उपन्यास कहा वही निर्मल वर्मा के उपन्यास "लाल टीन की छत" और "एक चिथड़ा सुख" में सीमित अनुभव किन्तु तीव्र अनुभूति का चित्रण हुआ है ।

---

1. श्यामाचरण दूबे - परंपरा, इतिहास-बोध और संस्कृति, पृ.-138.
2. वही, पृ.-138.

उनके अनुसार निर्मल वर्मा के उपन्यासों में "भाषा की लय और कथानक के मोड़ पाठक को आकर्षित करते हैं पर जो समाज खण्ड इन उपन्यासों में चित्रित है वह भारत का प्रतिनिधित्व नहीं करता ।"[1] राजेन्द्र यादव और मन्नू भण्डारी के उपन्यासों का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा कि - "राजेन्द्र यादव मध्यवर्ग और उसकी मजबूरियों और बंदिशों को बड़ी खूबी से अंकित करते हैं पर उन जैसे समर्थ लेखक ने अपने घेरे को बढ़ाने का कोई सार्थक प्रयत्न नहीं किया । मन्नू भण्डारी ने नारी मन की उलझनों और उसके परिवर्तित परिवेश के सीमित विकल्पों को बड़े प्रभावशाली और हृदयग्राही ढंग से चित्रित किया है ।"[2] हिन्दी उपन्यास की सफलताओं के बावजूद भारत के सामाजिक यथार्थ के आकलन में उसकी सीमाएं और न्यूनताएं चुभने वाली है । श्यामाचरण दूबे ने विभाजन, हिन्दी-चीन युद्ध, आज की हिंसा और झुग्गी-झोपड़ियों पर उपन्यासों के अभाव का उल्लेख किया । ग्रामीण जीवन पर लेखन की परंपरा पुरानी है । बदलते ग्रामीण परिदृश्य के चित्रण के प्रयत्नों में कुछ असाधारण सफलता वाले उपन्यास भी लिखे गए हैं । नागार्जुन के उपन्यास "दुःखमोचन" का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा कि - "दुःख मोचन की भाषा सीधी-सादी और शैली उबड़-खाबड़ है, गाँव के रास्तों और वहाँ की जिन्दगी की तरह । यह अनगढ़ शैली कथावस्तु के अनुरूप होने के कारण उसके विकास में बाधक नहीं होती ।"[3] स्वतन्त्रता के बाद के भारत की तसवीर इस उपन्यास से उभरती है । श्यामाचरण दूबे के अनुसार "दुःखमोचन" के नायक द्वारा गाँवों को रूढ़िवाद, जातिवाद और शोषण से

---

1. श्यामाचरण दूबे - परंपरा, इतिहास बोध और संस्कृति, पृ॰-139.
2. वही, पृ॰-139.
3. वही, पृ॰-140.

मुक्त करने का आग्रह नागार्जुन का प्रगतिशील मानववाद का आग्रह अधिक और सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति कम है । "इसके विपरीत "मैला आँचल" और "परती परिकथा" के कथानक पर आइडियालाजी हावी नहीं होती ।"[1] श्यामाचरण दूबे के अनुसार रेणु के उपन्यासों की सफलता के पीछे लेखक की अद्भुत परानुभूति क्षमता और अनुभव क्षेत्र की विशालता है । "अपने इन्हीं गुणों के कारण वे मिथिला के बदलते ग्रामीण परिदृश्य को सफलतापूर्वक अंकित कर सके हैं । ग्राम भाषा के मुहावरे की पकड़ और लोकोक्तियों और गीतों के उपयोग की क्षमता के कारण 'मैला आँचल' में वे पूर्णिया की लोक संस्कृति, उसके सुख और दुःख की पुनर्रचना कर सके हैं और 'परती परिकथा' में दो पीढ़ियों की वैचारिक भिन्नता को सूक्ष्मता से आँक सके हैं ।"[2] उपन्यास चर्चा के क्रम में "राग दरबारी" का उल्लेख करते हुए श्यामाचरण दूबे ने लिखा कि "विराट समाजशास्त्रीय कल्पना वाले बीस विद्वान ग्रामीण यथार्थ के बारे में जो नहीं कह सकते वह इस उपन्यास में श्रीलाल शुक्ल ने कहा दिया है ।"[3] आगे "तमस" का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि "'तमस' पंजाब के गावों की कहानी है, देश के विभाजन की भी । नौकरशाही पर भी भीष्म साहनी की दृष्टि गयी है । कथानक में 'फूट पैदा करो और राज करो' के सिद्धान्त को यदि वे अधिक स्वाभाविक और संयत ढंग से प्रस्तुत कर सकते तो उनकी यह रचना निसन्देह अधिक सशक्त बन पड़ती ।"[4] राही मासूम रज़ा के उपन्यास "आधा गाँव" में उन्होंने ग्रामीण परिवेश में मुसलमान के विखण्डित व्यक्तित्व की कहानी माना है । आदिवासी और हरिजन पर उपन्यास कम

---

1. श्यामाचरण दूबे - परंपरा, इतिहास बोध और संस्कृति, पृ--140.
2. वही, पृ--140.
3. वही, पृ--141.

ही लिखे गए । रांगेय राघव का "कब तक पुकारूँ" नटों के जीवन पर एक आरम्भिक प्रयास था । इस तरह के उपन्यासों की नियति का उल्लेख करते हुए श्यामाचरण दूबे लिखते हैं कि - "उन पर आदिवासी संस्कृति का मुलम्मा तो था पर उनकी मानसिकता नगर की ही थी ।"[1] "हिन्दी उपन्यास और ग्रामीण परिदृश्य" नामक लेख में वे लिखते हैं कि अधिकांश हिन्दी उपन्यास अभी भी नगरों और कस्बों के इर्द-गिर्द घूम रहे हैं । बहुत कम लेखक ग्रामीण और दलित जन से तादात्म्य स्थापित कर सके हैं, और जिनके लिए हम क्रान्ति के नारे लगा रहे हैं वे अभी भी हमारे लिए अजनबी हैं ।"[2]

"प्रेमचन्द की परम्परा" नामक लेख में उन्होंने प्रेमचन्द का मूल्यांकन किया है । कथा साहित्य में उनके योगदान का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं कि - "वे कथाशिल्प के अविष्कारक तो नहीं थे किन्तु हिन्दी में उपन्यास और लघु कथा की अल्पविकसित विधाओं को सबल करने में उनका योगदान महत्वपूर्ण था ।"[3] इस लेख में उन्होंने हिन्दी साहित्य की कथा परम्परा में तिलिस्म और ऐयारी के उपन्यासों का उल्लेख करते हुए प्रेमचन्द को इसकी ठोस भूमि तैयार करने वाला माना है । प्रेमचन्द के महत्व का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं कि - "प्रेमचन्द ने बहुत कुछ लिखा है । किन्तु वे यदि सिर्फ गोदान और ग्रामीण जीवन सम्बन्धी आठ-दस कहानियों से अधिक कुछ न लिखते तो भी हिन्दी साहित्य में एक युग प्रवर्तक के रूप में सम्मानित होते ।"[4] उपन्यास की सफलता इस बात में हुआ करती है कि वह जीवन के कितना

---

1. श्यामाचरण दूबे - परंपरा, इतिहास बोध और संस्कृति, पृ--142.
2. वही, पृ--142.
3. वही, पृ--142.
4. वही, पृ--144.

करीब हैं । "गोदान" इस दृष्टि से अत्यन्त सफल उपन्यास है । गोदान के पात्रों में ग्राम-जीवन से इतनी निकटता है कि, "ऐसा प्रतीत होता है कि सीधे जीवन से उठाकर उन्हें उपन्यास के पृष्ठों में रख दिया गया हो । इन पात्रों में गाँव का रंग है, मिट्टी की गन्ध है । उनकी भावनाओं और शब्दों में जनमानस मुखरित होता है । गोदान कल्पना की ऊँची उड़ानों की सृष्टि नहीं है । ··· इसके पात्र हाड़-माँस के बने सामान्य जन हैं जिनकी जिन्दगी में मुख का अभिशाप है, महाजन का शोषण है, जमींदार का उत्पीड़न है ।"[1]

ग्रामीण और नगरीय जीवन के चित्रण के सन्दर्भ में प्रेमचन्द पर आरोप लगाया जाता है कि प्रेमचन्द नगरीय जीवन और उसकी उलझनों को उतना नहीं समझ पाए जितना वे ग्रामीण जीवन को समझे थे । इस विषय पर विचार करते हुए श्यामाचरण दूबे ने लिखा है कि "जिस काल खण्ड का वर्णन प्रेमचन्द ने किया है उसमें ग्रामीण और नगरीय जीवन का अन्तर्विरोध उतना स्पष्ट नहीं हुआ था जितना वह आज है । फिर भी यह तो मानना ही होगा कि प्रोफेसर मेहता और मालती के चरित्रों में जीवन का वह स्पन्दन नहीं है जो 'होरी' और 'धनिया' के चरित्रों में मिलता है ।"[2] ग्रामीण परिवेश के चित्रण के साथ-साथ तत्कालीन आजादी की लड़ाई का प्रभाव उनकी रचनाओं में दिखाई पड़ता है । गाँधीवाद, आदर्शवाद और समाज सुधार की भावना उनकी आरम्भिक कृतियों में मुखर रूप से व्यक्त हुई है, लेकिन बाद में उनका स्वर मद्धिम पड़ता गया है । प्रेमचन्द की परंपरा का उल्लेख करते हुए श्यामाचरण दूबे लिखते हैं कि "प्रेमचन्द की परंपरा को सच्चे अर्थों में आंचलिक उपन्यासों

1· श्यामाचरण दूबे - परंपरा, संस्कृति और इतिहास बोध, पृ·-144.
2· वही, पृ·-144.

और कहानियों ने आगे बढ़ाया । कुछ सशक्त लेखन इस विधा के माध्यम से भारतीयता की तलाश में अग्रसर हुए । x x x "मैला आँचल" और "परती परिकथा" आँचलिकता के आन्दोलन की आरम्भिक किंतु सफल रचनाएं थीं । यह रेणु की लेखनी की चमत्कार था कि उनकी इन कृतियों में ग्रामीण वातावरण सजीव हो सका ।"[1] आँचलिक उपन्यासों में अँचल नायक के रूप में उभर कर सामने आता है । इसी का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं कि - "बातचीत की अनगढ़ शैली उनके पात्रों की ग्राम्यता को उभारकर सामने लाती है ऐसा किसी भी पात्र के सम्बन्ध में प्रतीत नहीं होता कि ग्रामीणों की वेषभूषा में आधुनिकता से प्रभावित शहर का कोई व्यक्ति बोल रहा है । x x x कथानक और शैली दोनों की दृष्टि से रेणु ने कथाशिल्प को प्रेमचन्द से आगे बढ़ाया है ।"[2]

आँचलिकता से हटकर भी भारत के ग्रामीण जीवन पर कुछ बेहद सशक्त उपन्यास लिखे गए हैं । इस सन्दर्भ में श्यामाचरण दूबे ने "राग-दरबारी "आधा गाँव" और "ज़िंदगीनामा" का उल्लेख किया है । "राग दरबारी" में लेखक को गाँव के आदर्श के प्रति कोई मोह नहीं है । परिणाम स्वरूप इसमें गाँव की विसंगतियों और विकृतियों का वर्णन भी बड़े बेबाक ढंग से हुआ है । इसी का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है कि - "आज के गाँव की दलबंदी और सत्ता की राजनीति ग्राम पंचायत और सहकारी समिति के काम में तरह-तरह की हेराफेरी और अधिकारियों का भ्रष्टाचार इन सभी को कथानक मे पिरोया गया है । साथ ही उन तत्वों का भी विश्लेषण है जो गाँव को

---

1. श्यामाचरण दूबे - परंपरा, इतिहास बोध और संस्कृति, पृ--145.
2. वही, पृ--145.

एक जीवित समुदाय का रूप देते हैं ।"[1] राही मासूम रज़ा का "आधा गाँव" में बोलचाल की भाषा में गाज़ीपुर के गाँव गंगौली की कहानी हर तबके के पात्रों के माध्यम से कही गयी है । इसका उल्लेख करते हुए श्यामाचरण दूबे लिखते हैं कि "शायद ही किसी उपन्यासकार ने हिन्दुस्तान के मुसलमानों को उनके परिवेश से जोड़कर इतनी सफलता से प्रस्तुत किया हो ।"[2] कृष्ण सोबती की "ज़िन्दगीनामा" के बारे में दूबे जी का कहना है कि - "एक भूखण्ड और कालखण्ड पर केन्द्रित यह कृति एक दृष्टि से उपन्यास है, दूसरी दृष्टि से नहीं । x x x सामाजिक दूरी और तनाव भाषा के रूप से स्पष्ट हुए हैं । भाषा में आनेवाला बदलाव कालान्तर में धर्म और वर्ग के आधार पर होने वाले संघर्ष की ओर इशारा करता है । पुस्तक में व्यवहृत मुहावरा केवल भाषा का अंग नहीं है, अनेक अर्थों में संस्कृति का मुहावरा है ।"[3]

प्रेमचन्द की परम्परा का उल्लेख करते हुए श्यामाचरण दूबे ने उपरोक्त उपन्यासों और उपन्यासकारों का विवेचन किया है । उन्होंने लिखा कि - "[उपरोक्त] चर्चित उपन्यासकारों को यदि वे पढ़ सकते तो उन्हें प्रसन्नता होती कि प्रतिबद्ध लेखन का युग अभी समाप्त नहीं हुआ है । x x x कथ्य और शिल्प के जो प्रतिमान इन लेखकों ने विकसित किए हैं, वे प्रेमचन्द की परंपरा को सशक्त करते हैं, आगे बढ़ाते हैं ।"[4]

"साहित्य और समाज" नामक अध्याय में श्यामाचरण दूबे ने दो प्रश्नों को सामने रखा है - "पहला सांस्कृतिक परंपराओं तथा सामाजिक

---

1. श्यामाचरण दूबे - परंपरा, इतिहास बोध और संस्कृति, पृ.-146.
2. वही, पृ.-147.
3. वही, पृ.-147.
4. वही, पृ.-

मूल्यों और प्रवृत्तियों से साहित्य किस तरह प्रभावित होता है ? और दूसरा साहित्य अपने सांस्कृतिक-सामाजिक पर्यावरण को किस भाँति प्रभावित करता है ?"[1] इन दो प्रश्नों के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने साहित्य और समाज के विविध पक्षों पर विचार किया है । सभ्यता के उदय के साथ मनुष्य के नए प्रकार के अन्त:सम्बन्धों की अभिव्यक्ति एवं चेतना के नए रूप को अभिव्यक्ति देने के क्रम भाषा में सम्पन्नता आयी । लोक साहित्य के उद्भव का उल्लेख करते हुए श्यामाचरण दूबे लिखते हैं कि - "जन-भाषा और लोक साहित्य परंपरा के अंग थे, उनका विस्तार समाजव्यापी था × × × अब तक का अधिकांश साहित्य लोक-साहित्य की श्रेणी का था और पूरी तरह से मौखिक था ।"[2] लोक साहित्य आरम्भ में निस्सन्देह एक व्यक्ति की अनुभूति की अभिव्यक्ति रहा होगा लेकिन धीरे-धीरे स्वीकृति और विस्तार के क्रम में यह जन-सामान्य की भावना की अभिव्यक्ति बन गया । इसी सन्दर्भ में श्यामाचरण दूबे लिखते हैं कि - "इस समय तक रचनाकार समाज के एक अलग श्रेणी के रूप में नहीं उभरे थे, वे जन-सामान्य के अंग थे । साहित्य जीविका का साधन नहीं था, जीवन को सुखमय बनाने का एक साधन था ।"[3] साहित्य की भूमिका पर विचार करते हुए दूबे ने लिखा कि - "साहित्य के दो मुख्य सामाजिक प्रयोजन थे, मनोरंजन और धार्मिक शिक्षा । अप्रत्यक्ष रूप से साहित्य समाजीकरण और सामाजिक नियन्त्रण की प्रक्रियाओं को बल और गति देने में भी सहायक होता था ।"[4]

---

1. श्यामाचरण दूबे - परंपरा, इतिहास बोध और संस्कृति, पृ॰-
2. वही, पृ॰-152.
3. वही, पृ॰-152.
4. वही, पृ॰-153.

साहित्य का कथ्य क्या होता है, इसपर विचार करते हुए दूबे ने लिखा कि - "साहित्य संचार या संप्रेषण की एक विधा है । वह प्रयोजन हीन नहीं होता × × × दूरदर्शी साहित्यकार समय के आगे ही बात लिखता और सोचता है, किन्तु न तो वह तात्कालिक संदर्भों से विमुक्त हो सकता है, न उसके मुहावरे को भूल सकता, जो उसकी अभिव्यक्ति और सम्प्रेषणीयता को बढ़ाता है ।"[1] साहित्य की सामाजिक भूमिका को प्राय: सभी समाजशास्त्री आलोचकों ने स्वीकार किया है । दूबे साहित्य और समाज के सम्बन्धों की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि - "साहित्य की जड़ें समाज में होती हैं । वह स्वयं एक सामाजिक उत्पादन है । वह अपनी सामाजिक भूमिका के कारण ही मानवीय परंपरा का अंग बन सका है ।"[2] आगे वह लिखते हैं कि - "साहित्य-परंपराओं के प्रेषण का एक माध्यम है, उसके द्वारा परंपराएं एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचती हैं × × × जीवन-दृष्टि और मूल्यों के प्रेषण में भी उसका उल्लेखनीय योगदान होता है ।"[3] इसके अलावा श्यामाचरण दूबे ने "साहित्य के प्रयोजन" और साहित्य के भविष्य पर भी विचार किया ।

किसी रचना के मूल्यांकन से लेकर साहित्य के विभिन्न सैद्धान्तिक पक्षों पर श्यामाचरण दूबे ने विचार किया है । उन्होंने साहित्य का समाज की परंपरा वर्ग चेतना आदि के अलावा व्यापक सांस्कृतिक सन्दर्भों में मूल्यांकन किया है जिसका हिन्दी आलोचना के विकास में महत्वपूर्ण योगदान है ।

---

1. श्यामाचरण दूबे - परंपरा, इतिहास बोध और संस्कृति, पृ--156.
2. वही, पृ--159.
3. वही, पृ--160.

4. साहित्यिक एवं गैर साहित्यिक समाजशास्त्रीय आलोचना

साहित्यिक और गैर साहित्यिक समाजशास्त्रीय आलोचना के तुलनात्मक अध्ययन का उद्देश्य दोनों आलोचना पद्धतियों की समानता व अन्तर की तलाश करना है । प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में तीन समाजशास्त्रियों की साहित्यिक आलोचना कर्म पर विचार किया गया है । डी॰पी॰ मुखर्जी का लेखन मूलत: मराठी, बंगला और भारतीय साहित्य के व्यापक सन्दर्भों से जुड़ा है । समाजशास्त्र के लखनऊ स्कूल से जुड़े डी॰पी॰ मुखर्जी ने साहित्य को व्यापक सांस्कृतिक सन्दर्भों में देखा है । पी॰सी॰ जोशी और श्यामाचरण दूबे के लेखन में संस्कृति के सन्दर्भ में साहित्य को देखने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है । डी॰पी॰ मुखर्जी ने भारतीय समाजशास्त्र के शैशवाकाल में ही साहित्य को समाजशास्त्र के अध्ययन की महत्वपूर्ण विषयवस्तु के रूप में स्वीकार किया था । श्यामाचरण दूबे ने इस दिशा में महत्वपूर्ण काम भी किया और समाजशास्त्र के अध्ययन में साहित्य के महत्व को स्वीकारा भी ।
डी॰पी॰ मुखर्जी ने काफी पहले ही साहित्य के समाजशास्त्र के विकास में कुछ कठिनाईयों का उल्लेख किया था उनमें - "समाजशास्त्र की दृष्टि और पद्धति से अपरिचय दूसरा मार्क्सवाद का सरलीकरण और तीसरा साहित्य की दुनिया से समाजशास्त्रियों की उदासीनता"[1] प्रमुख थी । यह कथन आज की स्थिति के बारे में भी सच है । डी॰पी॰ मुखर्जी ने नवजागरण या पुर्नजागरण की व्यापक परंपरा के सन्दर्भ में भारतीय साहित्य का मूल्यांकन किया ।

1॰ घूर्जटि प्रसाद मुखर्जी - डाईवर्सिटीज, पृ॰-298.

उन्होंने साहित्य को तत्कालीन उपनिवेशवादी सन्दर्भों से जोड़कर देखने का भी प्रयास किया । साहित्य के उनके मूल्यांकन में समाज की समग्रता और परम्परा की परिकल्पना विद्यमान है ।

पी॰सी॰ जोशी और श्यामाचरण दूबे की साहित्यालोचना मुख्यत: कथा-साहित्य पर केन्द्रित है लेकिन साहित्य की अन्य विधाओं पर भी उन्होंने कहीं-कहीं विचार किया है । प्रेमचन्द का मूल्यांकन पी॰सी॰ जोशी ने भारतीय सामन्ती व्यवस्था, उपनिवेशवाद से उपजी व्यापक आर्थिक व्यवस्था, महाजनी व्यवस्था, जाति व्यवस्था गावों के सामाजिक सम्बन्ध, आजादी की लड़ाई और भारतीय परंपराओं के सन्दर्भ में किया है । प्रेमचन्द के साहित्य के माध्यम से उन्होंने भारतीय गाँवों का व्यापक समाजशास्त्रीय विवेचन किया है । हिन्दी आलोचना में प्रेमचन्द सम्बन्धी उनके मूल्यांकन का निर्णायक प्रभाव पड़ा । हिन्दी आलोचना में भारतीय समाज की जो खोज साहित्य में की गयी उसमें संगति का अभाव और यांत्रिकता दिखाई पड़ती है । लेकिन बाद में रामविलास शर्मा ने प्रेमचन्द का व्यापक समाजशास्त्रीय सन्दर्भों में मूल्यांकन किया । इसके बावजूद प्रेमचन्द सम्बन्धी अनेक आलोचनाओं में समाजशास्त्रीय पद्धतियों का यांत्रिक उपयोग किया गया है ।

श्यामाचरण दूबे ने प्रेमचन्द के अलावा हिन्दी के कथा साहित्य का मूल्यांकन किया है । उनके लेखन में प्रेमचन्द की परंपरा को बाद के कथा-साहित्य में खोजने का महत्वपूर्ण प्रयास हुआ जो काफी हद तक सार्थक और महत्वपूर्ण है । हिन्दी आलोचना में प्रेमचन्द की परम्परा के विकास को खोजने के प्रयास बहुत कम हुए हैं । इसके लिए एक व्यापक समाजशास्त्रीय दृष्टि एवं परंपरा के बोध की जरूरत है, साथ ही इस दिशा में अध्ययन की महत्वपूर्ण संभावना आज भी विद्यमान है । हिन्दी की समाजशास्त्रीय साहित्यिक आलोचना को इसके लिए वैचारिक पूर्वाग्रहों से मुक्ति पाने की जरूरत है ।

.....